# भगवान महावीर का धर्मचक्र जगत का कल्याण करो

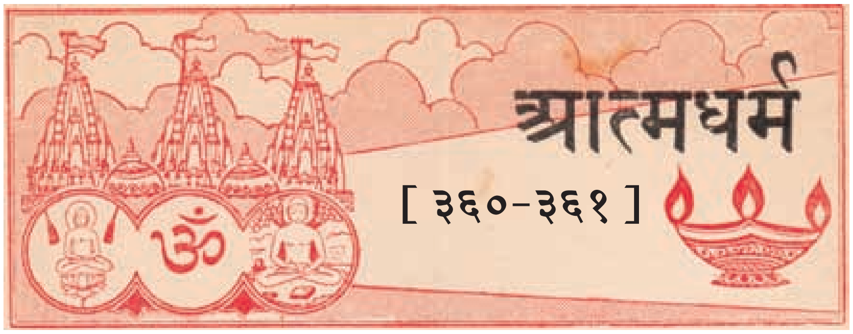


## सर्वज्ञ महावीर का उपकार

सर्वज्ञ महावीर हमारी भरतक्षेत्र में प्रवर्तमान मोक्षमार्गरूप धर्मतीर्थ के प्रणेता है—जिनके तीर्थ में हमें धर्मप्राप्ति हुई है;—उन परमेश्वर के परम उपकार को प्रसिद्ध करने का अभी महत् प्रसंग है; अत: सर्वज्ञ महावीर के महान गुणों को पहचानकर उनके गुणगान के साथ उनका महान उपकार हम प्रसिद्ध करते हैं।

हे वीरनाथ-सर्वज्ञदेव! हम कैसे भूलें आपके उपकार को! आपकी परंपरा से प्राप्त, आपकी सर्वज्ञता के प्रसादरूप सम्यग्ज्ञान आज भी हमें भव-दु:ख से छुड़ाकर अपूर्व मोक्षसुख का स्वाद सिखलाता है। आपके यह सर्वोत्कृष्ट उपकार की प्रसिद्धि का महान अवसर आज आपके ढाई हजार वर्षीय-निर्वाण-महोत्सव के प्रसंग पर हमें प्राप्त हुआ है; तब अंतर की लाख-लाख ऊर्मियों से हम आपका अभिनंदन करते हैं। — जय महावीर

| वर्ष ३० | वीर सं० २५०१ चैत्र-वैशाख संयुक्त-अंक | वर्ष ३१ |
|---|---|---|
| अंक १२ | [३६०-३६१] | अंक १ |
| तंत्री— | वार्षिक चंदा रु. ६=०० | संपादक— |
| पुरुषोत्तमदास शिवलाल | आत्मधर्म कार्यालय | ब्रह्मचारी हरिलाल जैन |
| | सोनगढ़ (३६४२५०) | |

# भगवान वीरनाथ का वीतरागी धर्मचक्र भरतक्षेत्र में आज भी चल रहा है

अहो वर्द्धमानदेव! रत्नत्रय-धर्मचक्रस्वरूप जो मंगल तीर्थ आपने विपुलाचल से चलाया; वह बहता हुआ आज ढाई हजार वर्ष से भारतदेश में सर्वत्र चल रहा है; इस वीतरागी तीर्थ में स्नान के द्वारा मिथ्यात्वादि मैल को धोकर आनंदरस के पान से अनेक जीव पावन हुए हैं, हो रहे हैं, हजारों वर्ष तक होते रहेंगे।

प्रभो महावीर! आप धर्मतीर्थ के कर्ता हो; शुद्धोपयोगरूप तीर्थ के द्वारा आप भवसमुद्र को तिर गये; आपके तीर्थ को पा करके हम भी भव से तिर रहे हैं। इसप्रकार आपका वीतरागी धर्मचक्र आज भी चल रहा है, और हम जैसे भव्य प्राणियों को मोक्षमार्ग में लगाकर परम उपकार कर रहा है।

''अभिवंदामि सिरसा अपुणब्भवकारणं महावीरं''

❀ वीरनाथ भगवान का महान उपकार है—जिन्होंने हमें मोक्षमार्ग दिखाया ❀

**अहो वीरनाथ जिनेन्द्र! सर्वज्ञता से तथा आनंद से सुशोभित आपके आत्मा को चेतनभाव से पहचानने से हमें भी आनंदसह सम्यक्त्व होता है।**

[सोनगढ़ परमागममंदिर में विराजमान भगवान महावीर की वीतरागमुद्रा के दर्शन से साधक के अंतर में शांति की अनोखी लहरें उठतीं हैं।]

चेतनमय भाव से जो महावीर को पहचानता है उसे अवश्य सम्यक्त्व होता है

## [ षट्कारकों की स्वाधीनता से सुशोभित चैतन्यचक्रवर्ती ]

*समयसार की ४७ शक्ति में एवं प्रवचनसार की १६वीं गाथा में आत्मा के छह कारकों का बहुत सुंदर वर्णन किया है। सम्यक्त्व से लेकर केवलज्ञान तक अपनी निर्मल क्रिया का कर्ता कर्म-कारण-संप्रदान-अपादान-अधिकरण इन छहों कारकरूप स्वयं स्वाधीनरूप से परिणमित होता हुआ यह चैतन्यचक्रवर्ती अपनी स्वतंत्र प्रभुता से शोभित हो रहा है। चक्रवर्ती के षट्खंड की भी जिसके पास कुछ गिनती नहीं, ऐसा यह चैतन्य चक्रवर्तीत्व वीतरागसंतों ने हमें दिखलाया है। इस विषय के प्रवचन में से ८६ रत्नों को चुनकर गूँथी हुई यह मंगलमाला यहाँ आनंद के साथ दी जाती है; लीजिये—हर्षपूर्वक पहिनकर आनंदित हूजिये।* *(संपादक)*

१. अपने स्वाधीन षट्कारकों से स्वयमेव सर्वज्ञ होकर जिन्होंने सिद्धपद पाया और हमको भी ऐसा 'स्वयंभू' निजपद दिखलाया—ऐसे वीरनाथ जिन को वंदन हो।

२. जिसको धर्म करना है अर्थात् आत्मा की शांति की चाहना है, उसे वह अपने आत्मा में दृष्टि करने से ही मिलेगी, कहीं बाहर से नहीं मिलेगी। शांति जिसमें भरी हो, वहाँ से ही मिल सकती है।

३. आत्मा की शांति–सुख या आनंद आत्मा में ही भरा है, बाहर में नहीं है; और उसको प्रगट करने का साधन भी कहीं बाहर में नहीं है, साधन भी अपने में ही है।

४. अरे जीव! तेरा आत्मा 'स्वयंभू' है; तेरा केवलज्ञानादि होने के लिये छहों कारक तेरे में ही हैं। स्वभाव का अवलंबन करते ही तेरा आत्मा स्वयमेव छह कारकरूप होकर सम्यक्त्व और केवलज्ञानादिरूप हो जायेगा।

५. स्वसन्मुख होकर जब आत्मा निर्मल ज्ञानरूप हुआ, तब उसके ज्ञानभवन में आनंद–प्रभुता आदि के साथ कर्तापना–कर्मपना–करणत्व–संप्रदानत्व–अपादानत्व तथा अधिकरणत्व—ऐसे षट्कारक का परिणमन एक साथ है।

६. आत्मा के निर्मल परिणमन में बाह्य कोई कारक हैं ही नहीं, राग के कारकों का भी उसमें अभाव है। अपनी निर्मल परिणतिरूप क्रिया के छहों कारकरूप आत्मा स्वयमेव होता है, अत: वह 'स्वयंभू' है।

७. भाई, तेरे चैतन्य में ही संपूर्ण ताकत भरी है, उसका विश्वास करके उसी में दृष्टि लगा, अन्यत्र कहीं भी तेरे को तृप्ति नहीं मिलेगी। तेरा निधान तो तेरे में ही है, उसकी सुंदरता अद्भुत है।

८. सम्यग्दर्शन से लेकर सिद्धपद तक के कार्य होने की शक्ति आत्मा में ही है, आत्मा स्वयं ही उस सम्यग्दर्शनादि कार्यरूप होता है, किंतु राग कदापि सम्यक्त्वादिरूप परिणत नहीं होता; क्योंकि निर्मल कार्यरूप बनने की शक्ति आत्मा की है, राग की नहीं।

९. राग करते–करते सम्यग्दर्शन हो जायेगा—ऐसी जिसकी मान्यता है, उसने सम्यग्दर्शन को राग का कार्य माना, परंतु जिसमें सम्यग्दर्शनादि कार्यरूप होने की 'कर्मशक्ति' है—ऐसे आत्मा को उसने नहीं जाना; अत: उसे निर्मल कार्य नहीं होता।

१०. अपने षट्कारकरूप स्वभाव सामर्थ्य के अनुसार जो निर्मल परिणति हो—वह आत्मा की क्रिया है। जहाँ स्वभाव का अनुसरण किया, वहाँ षट्कारकरूप स्वयं होकर सर्वज्ञता की ओर जाने लगा और विभाव से विमुख हो गया।—यही है साधकदशा, और यही है धर्म।

११. 'आत्मा अनंत शक्तिवाला है—फिर भी वह देखने में क्यों नहीं आता ?'—यदि ऐसा कोई कहे तो—अरे भैया! तुम देखते हो पर की तरफ और कहते हो कि आत्मा नहीं दिखता;—परंतु कहाँ से दिखे ? आत्मा की ओर देखो, तब वह दिखे ना ? पर की ओर देखने से आत्मा कहाँ से दिखे ? अतः यदि आत्मा को देखना चाहो तो स्वसन्मुख होओ, तभी उसका स्वानुभव होगा।

१२. 'णमो अरिहंताणं' ऐसा कहकर अनेक लोग सर्वज्ञ भगवान को नमस्कार करते हैं—परंतु जब तक नमस्कार करनेवाला स्वयं अपने में ही सर्वज्ञ जैसी अनंतशक्ति है, उसका विश्वास न करे और स्वशक्ति के सन्मुख न होवे, तब तक सर्वज्ञदेव को भी उसका परमार्थ नमस्कार नहीं पहुँच पाता। सर्वज्ञस्वभावी अपनी स्वशक्ति के सन्मुख होते ही सर्वज्ञ को परमार्थ नमस्कार स्वयमेव हो जाता है।

१३. —यह जैनशासन की ही अद्भुत खूबी है कि बाहर में सर्वज्ञ के सामने बिना देखे भी सर्वज्ञ को परमार्थ नमस्कार हो जाता है। वाह रे वाह, जिनों का आत्मसन्मुखी मार्ग !

१४. सर्वज्ञ होने की शक्ति मेरे में है—ऐसे अपने पूरे गुणों को जो नहीं स्वीकारता, वह सर्वज्ञभगवान के पूरे गुणों को कैसे पहचानेगा ? और बगैर पहचान सच्चा नमस्कार कैसे हो सकता है ?

१५. अहा, आचार्यदेव ने आत्मा की स्वाधीन शक्ति की पहचान कराके अद्भुत

प्रभुता दिखायी है—जिसकी पहचान से आत्मा अपनी स्वतंत्र प्रभुता से ऐसा सुशोभित हो उठता है कि उसके अखंड प्रताप को कोई तोड़ नहीं सकता।

१६. सभी साधनरूप होने की शक्ति आत्मा में है। स्वोन्मुख होकर आत्मा ने अपने में से जो सम्यग्दर्शनादि निर्मल भाव प्राप्त किया, उस भावमय आत्मा स्वयं हो गया—ऐसा उसकी 'कर्मशक्ति' है। प्रत्येक आत्मा में ऐसी शक्ति त्रिकाल विद्यमान है। उसका स्वीकार करनेवाले को निर्मल कार्य भी विद्यमान है।

१७. मुझे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी कार्य करना है, सो वह कार्य कहाँ से आयेगा? ऐसा संदेह करनेवाले से आचार्यदेव कहते हैं कि : रे भैया! वह कार्य कहीं बाहर से नहीं आता, किंतु तेरे आत्मा में ही ऐसी ताकत है कि वह स्वयं उस कार्यरूप हो जाये;—परंतु कब? जब कि स्वसन्मुख हो तब।

१८. धर्मरूपी जो निर्मल कार्य, उसरूप आत्मा स्वयं होता है; शरीर या राग ये कोई धर्मरूप नहीं होता। निजशक्ति में से निर्मलभाव प्राप्त करके आत्मा स्वयं उसरूप होता है।

१९. आठों द्रव्यकर्म जड़ है; भावकर्म विभाव है; सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायरूप कर्म है, वह आत्मस्वभाव का कार्य है। आत्मा के शुद्ध स्वभाव को पहचानते ही वह स्वयं निर्मल कार्यरूप होने लगता है, और रागादि भावकर्म तथा द्रव्यकर्म का संबंध टूटने लगता है।

—यही है धर्म! और यही है आत्मा का कर्म। इसके अतिरिक्त और कोई कर्म (कार्य) सचमुच में आत्मा का नहीं है।

२०. जिसमें जो तन्मय हो, वही उसका कार्य होता है:—

❀ शरीर-कर्म-भाषा ये जड़ का कर्म है, क्योंकि उसमें जड़ तन्मय है।

❀ रागादि विकारीभाव, वह मिथ्यादृष्टि का कर्म है, क्योंकि उसमें वह तन्मय है।

❀ समकिती धर्मात्मा का कर्म तो निर्मल श्रद्धा–ज्ञान–आनंदरूप है, क्योंकि वह उसमें तन्मय है।

२१. ❀ क्या राग धर्मी का कार्य है ?–नहीं; क्योंकि उसमें वह तन्मय नहीं है।

❀ क्या आठ कर्म जीव का कार्य है ?–नहीं; क्योंकि उसमें वह तन्मय नहीं है।

❀ कर्ता जिसकी साथ तन्मय होकर वर्ते, वही उसका कार्य होता है।

२२. 'कर्ता का जो इष्ट, वह उसका कर्म।' धर्मी जीव का इष्ट राग नहीं है, अत: वह उसका कर्म नहीं है। वह तो अपने ज्ञानानंदस्वभाव को ही इष्ट बनाकर उसके आश्रय से निर्मल कार्यरूप स्वयं परिणत होता है, यही उसका कर्म है।

२३. स्वभावशक्ति के अंतर्मुख होकर जो आत्मा अपने स्वाधीन षट् कारकों से निर्मल भावरूप होता है, उसी की यहाँ बात है। क्योंकि यह तो 'आत्मशक्ति' की बात है, 'शक्ति' में फिर 'अशक्ति' (विभाव) कैसी ? स्वभाव में विभाव नहीं होता।

२४. जड़कर्म तथा विकाररूप भावकर्म इन दोनों से पार ऐसी आत्मा की 'कर्मशक्ति' है—जिस शक्ति के बल से आत्मा अन्य की अपेक्षा के बिना अपने आप सम्यग्दर्शनादि कार्यरूप परिणत होता है।

२५. प्रभुतारूप, आनंदरूप, सर्वज्ञतारूप, स्वच्छतारूप—ऐसी सर्व शक्ति के निर्मल कार्यरूप स्वयं हो जाने की शक्ति आत्मा में है; अन्य किसी में (रागादि में या देह की क्रिया में) ऐसी ताकत नहीं है कि वह प्रभुतारूप या आनंदादि कार्यरूप हो सके।

२६. वाह रे वाह! वीरनाथ प्रभु! आपका शासन पराधीन–वृत्ति से छुड़ाकर, बाह्य साधन में भटकती व्यग्रबुद्धि को दूर करता है, और स्वाधीन–चैतन्यवृत्ति के द्वारा परम सुख प्राप्त कराता है। आपका शासन ही हमें परम इष्ट है।

२७. प्रभो! अनंत स्वाधीन शक्तिवाला आत्मा आपके शासन में दिखलाया है, वैसे आत्मा को ज्ञान में-प्रतीत में लेकर जो उसकी सम्मुख होता है, उसे अपने स्वभाव में से ही सभी गुणों का निर्मल कार्य होने लगता है;—उसे सम्यग्दर्शन होता है, सम्यग्ज्ञान होता है, सम्यक्चारित्र होता है, सुख होता है, प्रभुत्व होता है, स्वच्छता होती है—ऐसे अनंतगुण के निर्मल कार्यरूप उसका आत्मा स्वयं हो जाता है, अर्थात् परम इष्ट पद की प्राप्ति होती है।

२८. अहा, ऐसा महिमावंत उत्तम स्वभाव जो वीरनाथ प्रभु ने दिखलाया है, उसका जो अनादर करेगा, वह स्वभाव की ऊर्ध्वतारूप सिद्धपद को कैसे पावेगा? उत्तम स्वभाव का आदर करके उसका आश्रय करनेवाला जीव ऊर्ध्वपरिणमन करता हुआ सिद्धपदरूप स्वयं हो जायेगा।

२९. वाह! जब षट्कारकरूप निज साधनसंपत्ति का निश्चय किया कि—निजकार्य के लिये किसी बाह्यसाधन को ढूँढ़ने की चिंता नहीं रहती; इसप्रकार निश्चिंत पुरुषों के द्वारा ही वह आत्मा साधा जाता है।

३०. अपने में ही स्वभाव-साधन की पूर्णता जिसने न देखी, वही अपने कार्य के लिये बाह्य साधन को ढूँढ़ता हुआ संसारभर में घूमता रहता है और पराश्रयभाव से दु:खी होता है।

३१. यहाँ भगवान का शासन आत्मस्वभाव की पूर्णता, तथा छहों कारकों की स्वाधीनता दिखाकर स्वाश्रय की ओर ले जाता है.... स्वाश्रय में आत्मअनुभूति का परम सुख होता है।

३२. ज्ञानस्वभावी आत्मा अपनी अनंत शक्ति के साथ एकत्वरूप है, और अनंत परपदार्थों से विभक्त है; जो स्व में एकत्व कराके पर से विभक्त करे—यही सच्ची 'विभक्ति' है। शब्दों की अनेक विभक्ति जाने परंतु यदि आत्मा की पर से विभक्ति न जाने तो जीव को धर्म का कोई लाभ नहीं होता।

३३. आत्मा अपने (कर्ता–साधन आदि) कारकों को कहीं बाहर से नहीं लाता, अंतर्मुख होकर स्वयं ही अपने सम्यग्दर्शनादि के षट्कारकरूप हो जाता है। इसप्रकार अपने षट्कारक की स्वाधीन प्रभुता से शोभायमान वह चैतन्य-चक्रवर्ती है।

३४. जैसे चक्रवर्ती को अन्य की आधीनता (पराधीनता) नहीं होती; वैसे जिसके छहों कारक स्वाधीन-स्वतंत्र हैं, ऐसे चैतन्य चक्रवर्ती को अपने कार्य की सिद्धि के लिये कोई अन्य कारक की पराधीनता नहीं है; स्वाधीन-स्वाश्रय से वह अपने कार्य को करता है।

३५. अहा, मेरे स्वभाव का कार्य करने की ताकत मेरे में ही है—इसप्रकार अपनी शक्ति का दृढ़ निश्चय करना चाहिये। ऐसा निश्चय करते ही पराश्रयबुद्धि छूटकर, स्वाश्रित शुद्ध कार्य होगा।

३६. जो निर्मल कार्य सम्यग्दर्शनादि हुआ, उसका कर्ता भी आत्मा स्वयमेव है, अन्य कोई उसका कर्ता नहीं है। निमित्त उसका कर्ता नहीं है, राग भी कर्ता नहीं है, और पूर्व पर्याय भी उसकी कर्ता नहीं है। उस समय स्वाश्रयभाव से आत्मा स्वयं ही उसका कर्ता होकर परिणमा है।

३७. चैतन्य की प्रभुता से शोभायमान भगवान आत्मा स्वयं ही अपनी स्वतंत्र निज-शक्ति से अपने निर्मल कार्य का कर्ता बनता है।

३८. भाई! तेरे कार्य के लिये संसार के सामने मत देख, तेरे में ही देख; क्योंकि स्वतंत्ररूप से तेरे सम्यक्त्वादि कार्य का कर्ता होने की ताकत तेरे ही आत्मा में है।

३९. क्षायिक सम्यक्त्वरूप कार्य श्रुतकेवली या केवली भगवान के सान्निध्य में ही होता है, ऐसा नियम है—तो क्या वे केवली या श्रुतकेवली उस कार्य के कर्ता हैं?—ना; वह आत्मा स्वयं अपनी कार्यशक्ति से ही उसका कर्ता हुआ है।

४०. अहो, यह तो वीरप्रभु के विपुलाचल से बहाई हुई संजीवनी है... जिसके पान से चैतन्य का सत्य जीवन प्राप्त होता है। हे भव्य! अंतर्मुख दृष्टि के द्वारा तेरे आत्मभंडार को खोल, और सच्चा आनंदमय जीवन जीव!

४१. अंतर्मुख होने पर सम्यक्‌परिणाम हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ, ज्ञान हुआ, चारित्र हुआ, उसका साधन अपनी करणशक्ति से आत्मा स्वयं ही है।

४२. वाह! देख लो, यह साधकभाव का साधन! भाई, तेरा सर्व साधन तेरे में ही विद्यमान है; तेरा आत्मा खुद ऐसा कारणपरमात्मा है कि जो सम्यग्दर्शनादि का साधन होवे।

४३. व्यवहार में अनेक प्रकार के बाह्यसाधन का कथन आता है—जैसे कि पंचेन्द्रिय साधन, सत्समागम साधन, शुभराग साधन, पूर्वपर्याय साधन;—परंतु उपचार से इन सबको साधन कब कहा जाये?—कि जब अंतर्मुख होकर चिदानंदस्वभाव को ही सत्य साधन बनावे तब।

४४. सत्य (स्वाधीन) साधन के द्वारा जो कार्य साधता है, उसी के लिये अन्य वस्तु को उपचार से साधन कह सकते हैं। बिना कार्य के साधन किसका?

४५. अहो, मेरा चैतन्यधाम ही मेरे सर्व साधनों से परिपूर्ण है—ऐसी सम्यक् रुचि के द्वारा सम्यक्‌परिणमन (मोक्षमार्ग) होता है।

४६. स्वभाव की रुचि होने से आराधकभाव हुआ; उसका कारण होनेवाला आत्मस्वभाव है; परंतु विराधकभाव का कारण होनेवाला आत्मस्वभाव नहीं है।

४७. हे वीरा! तेरा मार्ग अप्रतिहत है; उस मार्ग में जो लगा, वह कभी पीछे हट नहीं करता; आराधना पूर्ण करके वह मोक्ष लेगा ही लेगा।

४८. अपने स्वभाव के द्वारा ही जो देने में आता है, ऐसा सम्यक्त्वादि भाव, उसको स्वयं आत्मा ही लेता है, यह इसकी संप्रदान शक्ति है।

४९. आत्मा किस वस्तु को देता है ?—क्या आत्मा जड़वस्तु देता है ? ना; तो क्या आत्मा विकार देता है ?—ना; विकार कहीं आत्मा के ज्ञानस्वभाव में भरा नहीं है कि वह विकार दे। स्वभाव-सन्मुख होकर आत्मा आप अपने को निर्मल पर्याय देता है, एवं पात्र होकर लेता है भी स्वयं। [शेष अगले अंक में]

रे जीव! तू स्वसहायी है, पराधीन नहीं है। पराधीनता के भाव में अनंतकाल से तू मुरझा रहा है, स्वाधीनता को एक बार देख तो सही। एक क्षण तो स्वाधीनता की गूँज जगा! तेरी स्वाधीनता की अचिंत्य महिमा तूने नहीं जानी, इससे निमित्ताधीन बुद्धि से जहाँ-तहाँ तेरा उपयोग घूम रहा है। यह भ्रमण टालने की व निजस्वरूप में स्थिर होने की तरकीब संत तुझे दिखा रहे हैं।

याद रखिये! आत्मधर्म का लवाजम छह रुपये है।
नये वर्ष का प्रारंभ इसी अंक से हो रहा है।
आत्मधर्म कार्यालय, सोनगढ़ (३६४२५०)

### दु:खों से त्रस्त जिज्ञासु शांति का पिपासु होकर

# शीघ्रता से आनंदधाम की ओर दौड़ता है

[ सम्यक्त्वजीवन लेखमाला : लेखांक १३ ]

सम्यक्त्व के लिये प्रयत्नशील आत्मा प्रथम इतना विश्वास करता है कि जगत में सुख का धाम यदि कोई हो तो वह मेरा चैतन्यपद ही है। ऐसे स्व-विश्वास के बल पर जैसे-जैसे अंतर में उसकी लगन बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे आनंद का धाम उसको अपने भीतर में निकट ही निकट दिखने में जाता है; और अंत में, उसकी लगन की पराकाष्ठा होने पर, जिसप्रकार तृषातुर हिरन पानी का सरोवर देखते ही उस तरफ दौड़े, उसीप्रकार उसकी परिणति वेगपूर्वक शीघ्रता से आनंदमय स्वधाम में प्रविष्ट होकर सम्यक्त्व से आनंदित व तृप्त होती है। (सं.)

'सम्यग्दर्शन होने के पूर्व आत्मसन्मुख जीव का रहन-सहन तथा विचारधारा किसप्रकार की होती है? और सम्यग्दर्शन होने के बाद उसका रहन-सहन तथा विचारधारा किसप्रकार की होती है?'—यह जानना जिज्ञासु के लिये बहुत उपयोगी और आवश्यक है। सम्यग्दृष्टि के अंतर में विद्यमान भेदज्ञान के भावों को कोई विरले ही पहचानते हैं।—परंतु जो पहचानते हैं, वे निहाल हो जाते हैं।

जिसकी अंतरंग परिणति चैतन्य की शांति के लिये तड़प रही है, चौबीसों घंटे सतत जिसको आत्मस्वरूप की ही लगन है, कषायों की अशांति से जो अत्यंत थका हुआ है, जिसका वैरागी हृदय भव-तन-भोगों से पार ऐसे कोई परमतत्त्व को खोज रहा है, और इसके लिये सर्व परभावों से दूर... अति दूर ऐसी निज-चैतन्यगुफा में प्रवेश करने के लिये तत्पर हुआ है, सच्ची शांति का मार्ग बतानेवाले देव-शास्त्र-गुरु

पर जिसको पूर्ण श्रद्धा है, और उनके पास जाकर अन्य सब अभिलाषाओं को छोड़कर महान निजवैभव की प्राप्ति के लिये जो पुकार करता है—ऐसी अंतरंग विचारधारावाला जीव आत्मसन्मुख धारा के द्वारा अल्प समय में ही अवश्य सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है और महान शांति का वेदन करता है। अहो! सम्यग्दर्शन होने के पूर्व ऐसे आत्मसन्मुख मुमुक्षु जीव का भी रहन-सहन एवं विचारधारा में कोई अलौकिक परिवर्तन हो जाता है।

वह जिज्ञासु जीव सोचता है कि अरे, अज्ञानभाव से देह के अर्थ मैंने अनेक जीवन गँवाये और मैं दु:खी हुआ। अब तो इस भवदु:ख से छूटने के लिये आत्मा के निजकल्याणार्थ सर्वस्व अर्पण करके यह एक जीवन तो ऐसे व्यतीत करूँगा कि अनंत काल की मेरी भूल दूर हो जाये और मुझे अपूर्व शांति प्राप्त हो। यह दुर्लभ मनुष्यजन्म और ऐसे उत्तम देव-गुरु-धर्म को पा करके भी यदि मैं अपना हित नहीं करूँगा तो फिर मेरे दु:ख का कहीं भी अंत नहीं आयेगा, संसार में कहीं भी शांति नहीं है; अत: इस जीवन का प्रत्येक क्षण अपने आत्मा के हित के लिये ही मैं व्यतीत करूँगा।

— इसप्रकार आंतरिक पुकार करता हुआ जो जिज्ञासु अतीन्द्रिय-आनंद का तीव्र चाहक बना, उसे अन्यत्र कहीं भी रस नहीं आता, वह चैतन्य के ही परमरस की पुष्टि करता है। संसार के कलबलाहट को छोड़कर, अंतर में एक आत्मप्राप्ति का ही ध्येय है; आत्मा के अनुभव के अर्थ उसके अंतर में उथल-पुथल मची रहती है। अनादि से जिन विषय-कषायों में मग्न था, वे अब बिल्कुल रसहीन मालूम पड़ते हैं; और अनादि से जो आत्मस्वरूप बिल्कुल अपरिचित था, वह अब परिचित होने लगता है; उसके परिचय में मन लगता है। जगत के कोलाहल से थकित उसका चित्त आत्मशांति को निकट में ही देखकर उसके प्रति एकदम उल्लसित होता है। जैसे, माता के लिये तड़पता बालक माता को देखकर आनंद से उल्लसित होता है, और शीघ्र दौड़कर उसका आलिंगन करता है; वैसे आत्मा के लिये तड़पता मुमुक्षु का

चित्त आत्मा को देखकर आनंद से उल्लसित होता है और तुरंत अंतर्मुख होकर उससे भेंटता है। जिसप्रकार तृषातुर हिरन पानी के तालाब की ओर दौड़ता है, उसीप्रकार आत्मपिपासु जीव की परिणति शांति के धाम की ओर वेगपूर्वक दौड़ती है।

वह मुमुक्षु अन्य ज्ञानियों की अनुभूति की बात परम प्रेम से सुनता है। अहो, ऐसी अद्भुत अनुभूति! इसप्रकार उसका चित्त उसी में तत्पर होता है। बस, अब अनुभव को देरी नहीं, काम चालू हो गया है, बहुत ही अल्प समय में कार्यसिद्धि होगी–सम्यग्दर्शन होगा–इसप्रकार परम उत्साहपूर्वक वह अपने कार्य को साधता है।

मेरा चैतन्यभगवान आत्मा देह से भिन्न है, राग से पार है—इसप्रकार जब आत्मा की प्रभुता ज्ञानी के श्रीमुख से सुने और अंतर में सोचे कि तुरंत ही उसको अपनी प्रभुता अपने में दिखने लगती है कि–अहो, मुझमें ऐसी प्रभुता! तो अब उसी में क्यों न रहूँ? अब एक क्षण भी दुःख में क्यों रहूँ? इसप्रकार उसके अंतर में फौरन चोट लग जाती है। मेरा ऐसा निजस्वरूप होने पर भी मैंने अभी तक उसको न पहचाना, परंतु अब तो मेरे आत्मकल्याण का उत्तम अवसर आ गया है,—यह अवसर अब मैं व्यर्थ नहीं जाने दूँगा। अब सदा के लिये इस भवदुःख से छूटकर आत्मा में ही विश्राम करना है, और उसके शांत निर्विकल्प रस का पान करना है।

**'वाह! देखो तो सही, सच्चे मुमुक्षु की आत्मजिज्ञासा!'**

वह सम्यक्त्व सन्मुख जीव चैतन्य में अंतर्मुख होकर अंतर्शोधन करता है कि मेरा चैतन्य ज्ञायकतत्त्व सबसे असंग केवल आनंदमूर्ति है। और रागादि क्षणिक भाव तो नये–नये आते हैं, फिर चले जाते हैं। मेरा चैतन्यभाव उनसे भिन्न है, वह विभावरूप कभी नहीं होता। विकल्प का कोलाहल शांत चैतन्य में प्रवेश नहीं करता। जिसप्रकार बर्फ में जिधर भी देखो शीतलता ही भरी है, वैसे मेरे चैतन्य में भी जहाँ देखूँ वहाँ सुख–आनंद–शांति की शीतलता का ही वेदन होता है—इसप्रकार उस चैतन्य का स्व–संवेदन करके सम्यग्दृष्टि होता है।

चमकीला हीरा जहाँ भी हो, उसकी कीमत तो एक समान ही रहती है। इसप्रकार चैतन्य-हीरा किसी भी शरीर के बीच में संयोग के बीच में या राग के बीच में हो तो भी उसके चैतन्यभाव की कीमत एक समान ही है। चैतन्यभाव तो उन सबसे अलग ही अलग चैतन्यभावरूप ही रहता है, वह अन्यथा नहीं होता, परभाव से लिप्त नहीं होता।

सम्यग्दर्शन के पहले मुमुक्षु की आत्मिक विचारधारा अति उग्र होती है;—जिसप्रकार राजपूत केसरिया करें, उसप्रकार आत्मा के लिये उसने स्वार्पण किया है—याहोम करके यह आत्मा में लग जाता है और मोह को तोड़कर सम्यग्दर्शन पाकर विजेता 'जिन' बन जाता है। भले ही छोटा, किंतु वह 'जिन' है।

—ऐसी सम्यक्त्वरूप जिनदशा की झँखनावाले मुमुक्षु को सबसे अलिप्त रहने की वृत्ति होती है; जहाँ चैतन्यभावना की पुष्टि हो, ऐसा संग ही उसे हितकारी मालूम होता है। 'मुझे अपने शुद्धात्मा का दर्शन करना है' बस, वही एक लगन रहती है, गुरु से भी बारबार यही प्रश्न पूछता है और यही बात सुनता है कि मुझको आत्मप्राप्ति कैसे हो? 'माँ' से अलग हुए बालक को जैसे 'मेरी माँ' 'मेरी माँ' वह एक ही रटन रहता है, उसके सिवाय अन्यत्र कहीं भी उसे चैन नहीं पड़ता; उसकी दृष्टि अपनी माँ की ही शोध में लगी रहती है। और वह मिलते ही तुरंत दौड़कर अत्यंत प्यार से उसके गले लग जाता है। इसीप्रकार आत्मा की स्वानुभूतिरूपी माता, उससे बिछुड़े हुए मुमुक्षु को 'मेरा आत्मा' 'मेरा आत्मा'—ऐसी एक ही लगन रहती है; उसकी ही खोज में वह अपनी पूरी शक्ति लगाता है; इसके सिवा और किसी में भी उसे चैन नहीं होता। स्वाध्याय-विचार-श्रवण-पूजा-गुरुसेवा आदि सभी कार्य के करते हुए भी उसकी नजर अपने स्वरूप को ही खोजती रहती है और जहाँ वह लक्षगत हुआ कि शीघ्र तत्क्षण ही उपयोग को उसमें लगाकर परम प्रेम से उसे भेंटकर तद्रूप बन जाता है। बस! ऐसी अनुभूति यही सम्यग्दर्शन है और वही मुमुक्षु का सच्चा जीवन है।

अंतर में ऐस अलौकिक आत्मजीवन के साथ उसका लौकिक जीवन भी बहुत उच्च कोटि का होता है। जैसी शांति मुझे प्राप्त हुई वैसे शांति सभी जीवों को प्राप्त हो, मेरे निमित्त से जगत में किसी को भी दुःख न हो, और मुझे कहीं भी राग-द्वेष न हो; अरे! जिनसे मेरी अत्यंत भिन्नता, जिनसे मेरा कुछ भी संबंध नहीं—ऐसे ये सभी परद्रव्य—उनमें प्रीति-अप्रीति करने से क्या? व्यर्थ राग-द्वेष करके मैं दुःखी क्यों होऊँ? इसप्रकार भेदज्ञान के बल से उसे वीतरागता की भावना होती है; देव-शास्त्र-गुरु-साधर्मीजन उन सबके प्रति उसे प्रमोद भाव आता है; अहो! भयंकर भवदुःख से छुड़ाकर जिन्होंने जीवन का सर्वस्व दिया, अपूर्व सम्यक्त्व दिया—उनके उपकार का क्या कहना? इसप्रकार देव-गुरु का परम उपकार मानता हुआ और सर्व जीवों का हित चाहता हुआ वह मुमुक्षु पूर्ण शुद्धात्मप्राप्ति के ध्येय की ओर ही आगे बढ़ता जाता है, स्वध्येय को कभी भी नहीं चूकता।

अहो! सम्यक्त्व-जीवन की अपार महिमा का क्या कहना? शास्त्रों ने स्थान-स्थान पर उसके गीत गाये हैं; परंतु शब्दों से उस स्वसंवेद्य वस्तु का कितना वर्णन हो सके? जिसने किसी धन्यक्षण में चैतन्यरत्न को परख लिया और सम्यग्दर्शन प्रकट किया, उस ज्ञानी-धर्मात्मा की दशा आश्चर्यकारी है!.... जगत में सर्वश्रेष्ठ ऐसे सम्यक्त्व-रत्न को प्राप्त करनेवाले उस ज्ञानी को आत्मप्राप्ति का अपूर्व आनंद होने पर भी इतने से ही वह पूर्ण संतुष्ट नहीं हो जाता, परंतु पूर्णता की भावनापूर्वक वह उसके लिये प्रयत्नशील रहता है। अहो! मेरे त्रिकाली स्वभाव में केवलज्ञान और सिद्धपद के पूर्णानंद से भरी अनंती पर्यायरूप होने की ताकत है—मैंने उसको पहचान लिया, तब फिर मैं इस अल्प पर्याय में संतोष क्यों मान लूँ? कहाँ सर्वज्ञ भगवंत! कहाँ महा ऋद्धिधारी मुनिभगवंत! मैं तो उनका दासानुदास हूँ, और मुझे ऐसी धन्यदशा कब हो, उसकी भावना करता हूँ। इसप्रकार धर्मी जीव को सम्यक्त्व के पश्चात् धर्मवृद्धि की उत्तम विचारधारा होती है।

जीव चारों गति में सम्यग्दर्शन पा सकता है। चार में से किसी भी गति में

सम्यग्दृष्टि हो, इन सभी सम्यग्दृष्टि की आत्मप्रतीति समान ही है... सम्यक्त्व का आनंद भी समान होता है, तत्त्व-निर्णय भी समान है... संयोग चाहे जो भी हो, सभी सम्यग्दृष्टि जानते हैं कि 'शुद्धोऽहं, चिद्रूपोऽहं, निर्विकल्पोऽहं'—मैं शुद्ध चैतन्यरूप हूँ, बाहरी किसी भी वस्तु का स्पर्श मुझे नहीं है। पहले अज्ञानदशा में मेरी पर्याय रागादि को स्पर्श करती थी, अब वह राग से भिन्न ज्ञानरूप होकर, ज्ञानस्वभावी आत्मा का स्पर्श करके परभावों से अलिप्त बन गई... जिस तरह पानी के बीच भी कमलपत्र पानी से अलिप्त रहता है, उसीप्रकार रागादि के बीच तथा बाह्य संयोगों के बीच भी सम्यग्दृष्टि का चैतन्यभाव उन सबसे अलिप्त है, अत: उसे ही सच्चा वैराग्य है! भले ही उत्कृष्ट शुभराग हो, फिर भी उसमें उसकी चेतना तन्मय नहीं होती, अलग ही रहती है। चैतन्य की शांति के पास स्व रागादि कषायभावों का वेदन उसे अग्नि समान दिखता है, अत: उनसे भिन्न ऐसे चैतन्य के समरस को ही निजरसस्वरूप वेदन करता है। [राग आग दहै सदा... तातें शमामृत सेइये।]

अहा, ऐसे साधक जीवों की शांति को देखकर अन्य जीवों को भी आत्मसाधना की प्रेरणा प्राप्त होती है! महाभाग्य से हमें वर्तमान में भी ऐसे शांतरसमय सम्यग्दृष्टि जीव सोनगढ़ में साक्षात् दृष्टिगोचर होते हैं; उन्हें हमारी वंदना हो!

# श्री आर्यिका माताजी के साथ में

[ ले० सुधाबेन वी. पाटनी, छिंदवाड़ा ]

श्री भगवान महावीर का ढाई हजार वर्षीय निर्वाणमहोत्सव चल रहा है; इसके अनुसन्धान में, मुमुक्षु को आत्महित की भावना पुष्ट हो तथा त्यागभावना जागृत हो—ऐसे लक्ष से 'मुनिवरों के साथ में' तथा 'श्री आर्जिका माताजी के साथ में' इस विषय पर निबंध की जो योजना प्रस्तुत की गई है, उसमें अभी तक ६६ निबंध (हिंदी-गुजराती) आ चुके हैं। इनमें से नमूने के तौर पर इस अंक में दो निबंध (संशोधनपूर्वक) दे रहे हैं। पढ़कर आपको अवश्य प्रसन्नता होगी। (संपादक)

चैत्रीपूर्णिमा का संध्या का सुनहरे किरणों से खिल उठा था। रोज ही की भाँति मैं अपने कमरे की गैलरी में खड़ी होकर सामने ही मंदिर के तीन भव्य और विशाल शिखरों को देख रही थी, जो कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के प्रतीक हैं और जो मुझे मोक्षमार्ग की राह दर्शाते हैं। और रोज ही की भाँति आँखें बंद करके पंच-परमेष्ठी का स्मरण किया। फिर आँखें खोल दीं। किंतु आज ये क्या दृश्य देखने में आ रहा है ? अहा! सारे शरीर में झनझनी फैल गई। मन गद्गद् हो उठा। खुशी के दो आँसू गालों पर लुढ़क गये। सामने ही आर्यिका माताजी अपने संघसहित चली आ रही थीं—अहा! मेरा सौभाग्य, मोक्ष के साधक माताजी के साक्षात् दर्शन हुए। श्रद्धा से मस्तक झुक गया। दोनों हाथ जोड़कर वहीं से शुद्धात्मनमस्कार किया। फिर आकाश की ओर देखा। आकाश से मानों रत्नों की वर्षा हो रही है, बहारें फूल बरसा रहे हैं और पवन मधुर-मधुर राग सुना रहा है। आज पूज्य आर्यिका माताजी के शुभागमन से छिंदवाड़ा शहर पवित्र हुआ है, धन्य हुआ है। उनके चरण-कमल के स्पर्श से यहाँ की भूमि भी निर्मल हो गई है। अहा, पेड़-पौधे

भी एक-दूसरे से मिलकर तालियाँ बजाने लगे; मन-मयूर नाच उठा। पूज्य आर्यिका माताजी की जय से आकाश गूँज उठा।

मैं शीघ्र ही माताजी की ओर चली। किंतु जब तक मैं उनके पास पहुँची, तब तक वे ध्यान में लीन हो गई थी। अहा, कितनी शांत और गंभीर मुद्रा थी उनकी! साक्षात् वीतरागता की मूर्ति लग रही थी वह। लगता था कि इस वीतरागता की मूर्ति को देखती ही रहूँ; यह मूर्ति कभी भी मेरे आँख से ओझल न हो। इस वैराग्योत्पादक मूर्ति को देखकर मैं अपनी आत्मप्यास बुझाऊँगी और मोक्ष के पथ पर चलूँगी।

धीरे-धीरे कुछ क्षणों के पश्चात् वह गोधूली की बेला पर रात्रि ने अधिकार कर लिया। चंद्रमा भी प्रसन्न हो अपनी ओर अधिक दूधिया चाँदनी छिड़ककर माताजी का स्वागत करने लगा। माताजी ने मौन धारण किया। मैं भी उनके निर्मल पैरों में नतमस्तक हो अपने घर लौट आई। रात भर वही शांत-गंभीर व वैराग्योत्पादक छवि चलचित्र की तरह आँखों में घूमती रही।

प्रात: उनके दर्शन को सभी लोग गये। माताजी का प्रवचन हुआ और प्रश्न-उत्तर भी। एक सूर्य गगन-पथपर अग्रसर हो जगत की वस्तुओं को प्रकाशित कर रहा था और दूसरा सूर्य अपने ज्ञानालोक से मिथ्या-अहंकार को भगाकर आत्मा में ज्ञान-ज्योति उगा रहा था। मैंने भी कहा—'माताजी! माताजी! आपको देखकर मेरा जीवन धन्य हुआ; मुझे संसार से विरक्तता उत्पन्न हो गई है। संसार में मेरा मन नहीं लगता है। मुझे दीक्षा दीजिये। आपकी छत्रछाया में रहकर मैं भी अपना आत्म-कल्याण करना चाहती हूँ।'

माताजी ने अत्यंत सरल मुद्रा में कहा—'बहन, इस समय तुम्हारा दीक्षा लेना योग्य नहीं है। तुम भावावेश में आकर ऐसा कह रही हो।'

नहीं माताजी, भाव में बहकर ऐसा नहीं कह रही हूँ—मैंने कहा।

'हे भव्य आत्मा सुनो' माताजी कहने लगीं—केवल बाह्य दीक्षा लेने से ही

आत्मा का कल्याण नहीं होता। अगर ऐसी दीक्षा लेने से ही मोक्ष होता, तो ऐसी दीक्षा तो तुमने अनंतों बार ली है और स्वर्गादि पद प्राप्त किया है। फिर भी अभी तक मोक्ष क्यों नहीं हुआ? इसका कारण है कि मोक्षमार्ग की सीढ़ी पर गलत तरीके से नहीं चढ़ा जाता। मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी सम्यग्दर्शन है। सम्यक्त्व के बिना जीव चारों गतियों में भटकता रहता है। अगर वह सीधे तरीके से प्रथम सम्यग्दर्शन और ज्ञान फिर चारित्ररूपी सीढ़ी पर चढ़ें तो अवश्य ही मोक्ष में पहुँच जाये। अत: तुम भी अभी दीक्षा न लेकर सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करो। जैनधर्म का प्रारंभ सम्यग्दर्शन से ही होता है।

'लेकिन माताजी, मैंने तो आजतक ऐसा सुना है कि व्रत, तप, दान, पूजा आदि प्रशस्तराग करो, वे ही मोक्ष का कारण हैं। इससे हमें आगे उत्तम कुल मिलेगा, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का निमित्त मिलेगा, और फिर हम मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।'—मैंने कहा।

''अहो, मात्र प्रशस्त राग का उपदेश देकर और उसको मोक्ष का साधन दिखाकर वे बहुत बड़ी भूल करते हैं। क्योंकि ऐसा प्रशस्तराग तो हम अनंत बार कर चुके हैं, और स्वर्गादि पद प्राप्त किया है। पूर्व में भी तुमने ऐसा प्रशस्तराग किया था, जिसके कारण आज तुम्हें पाँचों इंद्रियाँ व मन मिला, मनुष्यपर्याय मिली, उत्तम जैन कुल मिला, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का निमित्त भी मिल गया। सभी कुछ तो मिल गया है। शुभराग की भूमिका पर तो तुम पहुँचे हुए ही हो, और पहले भी कई बार पहुँच चुके हो। अब इसके आगे क्या करना है सो समझो। अगर अभी भी शुभराग को ही मोक्षमार्ग मानकर, इसे अच्छा समझकर, उसी में अटक जाओगे तो मिथ्यात्व का सेवन करके संसार में ही भटकते रहेंगे। क्योंकि प्रशस्तराग भी तो कषाय है ना! कषाय आत्मा का विकार है। अगर आत्मा कषाय से भिन्न अपने ज्ञानस्वभाव को भूलकर इसी राग में रस लेने लगेंगे तो उसके भीतर का अपूर्व अध्यात्मतत्त्व छिपा ही छिपा रह जायेगा। तब फिर उसे मोक्ष कैसे मिल सकेगा? पहले हम कह चुके हैं कि

सम्यग्दर्शन मोक्ष का बीज है और इस बीज की प्राप्ति किसी भी प्रकार के राग से कभी होती नहीं। मोक्षमार्ग और राग दोनों बिल्कुल विपरीत हैं। हाँ, जो कुदेव आदि को पूजते हैं, भक्ष्य-अभक्ष्य का कुछ भी विचार नहीं करते हैं, पाप से धर्म मानते हैं इत्यादि ऐसे अजैनों को प्रशस्तराग का उपदेश देकर और सत्यमार्ग दिखाकर पाप कार्य से छुड़ाना चाहिये। अशुभ की अपेक्षा शुभ अच्छा है लेकिन शुद्ध की अपेक्षा दोनों ही हेय हैं। आग चाहे चंदन की लकड़ी की हो या साधारण लकड़ी की, दोनों का स्वभाव जलाने का ही है। राग से रहित जो चैतन्यभाव है, उसी में शांति व सुख है।''

मैंने कहा—हाँ, माताजी आप बिल्कुल सही कहती हो। अब आप बताइये कि मुझे अब क्या करना चाहिये?

पहले तुम्हें तत्त्व का सत्य निर्णय करना चाहिये, क्योंकि वस्तुस्वरूप की पहिचान करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करना है—माताजी ने कहा।

धन्य हो माताजी, भाग्योदय से आज आपका दर्शन हुआ और सच्चा आत्महित का उपदेश प्राप्त हुआ। आपने सूखे हुए खेत को अमृत-जल से सींचकर हरा-भरा कर दिया है। माताजी, सम्यक्त्व के लिये आपके साथ ही रहकर वैराग्यपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करूँगी, और आपकी सेवा करके कृतकृत्य होऊँगी। तथा आपके सत्समागम से मैं जरूर भेदज्ञान की कला सीखूँगी-मैंने कहा।

माताजी के आहार का समय हो गया था। बहुत उमंग और उत्साह से मैंने पड़गाहा और आहार दिया। मेरे ये हाथ भी आहार देकर पवित्र हुए। हृदय सुख-सागर में डुबकियाँ लगाने लगा। अब तो चित्त संसार के विषय-भोग से हटकर मात्र चैतन्य की ओर झुक रहा है।

पैर घर को छोड़कर माताजी के साथ-साथ चलने लगे। और कुछ ही समय में मंदिर के शिखर भी दृष्टि से ओझल हो गये। एक स्थान से दूसरे स्थान और दूसरे से तीसरे स्थान पर चलते रहते। चलते समय ऐसा लगता है जैसे मैं भी भव-समुद्र से पार होने के लिये सत्समागमरूपी नौका पर बैठकर तिर रही हूँ। जब भी चर्चा होती

है, तब अपने ज्ञायकस्वभावी आत्मा की, चैतन्य की वीतरागता की, वस्तु-स्वरूप आदि की अत्यंत ही मीठी मधुर व रसीली चर्चा होती है। अहा, जब चैतन्य की चर्चा में ही इतना आनंद आता है, तब उसकी अनुभूति होने पर और उसे प्राप्त करने पर कितना आनंद आयेगा, उसकी कल्पना से भी मन भर जाता है। इस आर्यिका संघ में मुझे जो सुख का आभास होता है, उसे किसी कीमत पर छोड़ने को जी नहीं चाहता। जब माताजी अपने संघ के साथ में चलती हैं, तब ऐसा दिखाई देता है कि कई टिमटिमाते तारों के मध्य में चंद्रमा सुशोभित हो अपने लक्ष्यबिंदु पर चला जा रहा है। जब आत्मा की चर्चा होती है, तब मुझे रोमांच हो जाता है। हृदय में आनंद की तरंगें चलने लगती हैं। वैराग्यपूर्वक माताजी के साथ रहते हुए मुझे किसी भी प्रकार की संसारिक बात की चिंता या दु:ख नहीं सताता है। कौन कहाँ है, जिसका क्या हो रहा है, सब लोग मेरे प्रति कैसे भाव रखते हैं। आदि किसी भी बात का यहाँ तो विकल्प ही नहीं है। हाँ, कभी-कभी न जाने कहाँ खो जाती हूँ वैराग्य भावना के चिंतन में और माताजी की वैयावृत्ति करने में! माताजी की सेवा करना मुझे बड़ा भला लगता है। और ऐसा यह महा सौभाग्य से प्राप्त हुआ सुनहरा अवसर कितना सुंदर है, कितना सुखकर है, कितना मधुर है, कितना मीठा है, कितना रसीला है। अहा....

माताजी का संयमित जीवन देखकर मुझे भी संयम धारण करने की हलचल मचा करती है। और कई बार तो मैं उनके समीप ध्यान में एकाग्रता लाने का अभ्यास करती हूँ। आरंभ में कभी डांस-मच्छर काटते थे तो मेरा उपयोग टूट जाता था। और तब मुझे ख्याल आता कि जब मुनियों ने बड़े से बड़े उपसर्गों पर विजय प्राप्त की है तो क्या मैं इन मच्छरों के आगे हार मानूँ? नहीं... और फिर ध्यान में एकाग्रता लाने का प्रयास करती हूँ। माताजी के साथ-साथ चलने पर मैं भी जीव-रक्षा का ख्याल रखा करती हूँ। और कभी-कभी शक्ति अनुसार एकासन या उपवास भी करती हूँ। हालांकि इन सब बातों की मुझे कोई प्रतिज्ञा नहीं है किंतु अभ्यासरूप में बहुत सी क्रियाएँ माताजी के सदृश करती हूँ। इतना सब होने पर भी मन में मात्र एक यही भावना प्रबल हो उठती है कि कब मुझे सम्यग्दर्शन हो और कब संसार बंधन से छूटूँ।

माताजी भी जानती हैं मेरे हृदय की भावना! और इसलिये निरंतर स्वच्छ और निर्मल अमृत जल की बूँदों को उछालती रहती हैं और कभी-कभी तो चैतन्यरस का फुव्वारा भी छोड़ देती है, जिसमें मैं अच्छी तरह स्नान करके अपनी आत्मा को स्वच्छ करती रहती हूँ। कैसी-कैसी बूँदें उछलती हैं, देखिये—

आत्मा ज्ञानमूर्ति है। ज्ञान-आनंद ही उसका स्वभाव है। आत्मा में अभेद हो, वही सच्चा ज्ञान है। राग और ज्ञान भिन्न-भिन्न है। स्व और पर को भिन्न जानकर स्व का आश्रय करना, वह भेदविज्ञान का सार है। भेदविज्ञान से ही मुक्ति होती है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र आत्मा के स्वाश्रय से ही मुक्ति होने का कहते हैं। पर का ग्रहण-त्याग किसी के नहीं हैं। सत्यस्वरूप को समझना, सो वीतरागता का कारण है।

और मैं भी माताजी से प्रश्न करती रहती हूँ। कैसे प्रश्न?—''माताजी! सम्यक्त्व होने पर ज्ञानी को कैसा आनंद आता है? तब वे कहतीं-आहाहा! उस आनंद का तो क्या कहना! ऐसा अपूर्व और अतीन्द्रिय आनंद आता है कि न तो उसे वचनों से प्रगट कर सकते हैं और ना शब्दों से अंकित कर सकते हैं। उस आनंद को तो वही जान सकता है, जिसने उसका अनुभव किया। ऐसे धर्मात्मा का चित्त अन्यत्र कहीं भी नहीं लगता है। बार-बार आत्मा की ही ओर झुकता है।''

'माताजी! सत्धर्म के श्रवण के पश्चात् भी मुझे अभी तक सम्यक्त्व क्यों नहीं होता?'

''बहन! सत्धर्म के मात्र श्रवण से ही सम्यक्त्व नहीं होता। श्रवण आदि के पश्चात् आगे बढ़ने के लिये ग्रहण, धारणा और निर्णय करके आत्मा में रुचिपूर्वक परिणमित करना आवश्यक है। निरंतर जीव को शुद्धात्मा के चिंतन का अभ्यास करना चाहिये और स्वानुभव प्रगट करके मोक्ष का दरवाजा खोल देना चाहिये। जीव का मात्र यही महान कर्तव्य है।''

इसप्रकार माताजी के साथ प्रसन्नचित्त से स्वानुभव की चर्चा करना मुझे अत्यंत प्रिय लगता है। अब मेरा जीवन निरंतर तत्त्व की चर्चा में मग्न हो, शांतिपूर्वक

व्यतीत हो रहा है। माताजी की ध्यानस्थ शांत मुद्रा और सामायिक की अवस्था से मुझे बहुत प्रेरणा मिलती रहती है। चैतन्यतत्त्व की कोई अद्‌भुत महिमा दिखती है। इसप्रकार आर्यिका माताजी के साथ चलते-चलते मैंने अनेक तीर्थों की यात्रा भी की। माताजी तीर्थस्थानों मे बारबार मुझे आत्महित की विशेष प्रेरणा देती हुई मेरा उल्लास बढ़ाती थीं और स्वानुभूति का मार्ग दिखाती थीं। माताजी के साथ-साथ रहने पर मेरे ज्ञान में भी बहुत कुछ निर्मलता होने लगी। माताजी की वैराग्य उत्पन्न करनेवाली शांतमुद्रा को देखकर ही मुझे वैराग्य हुआ था और उन्हीं के सत्समागम से तत्त्व-निर्णय करने का पुरुषार्थ प्रबल हो उठा। इसके पश्चात् एक विशेष घटना घटी।

एक दिन मुझे शुद्धात्मा का ध्यान करते-करते रोमांच हो आया। आत्मा के प्रदेश-प्रदेश में आनंद की झंकार बज उठी। अंतस्तल में सुख का सागर लहरा गया। कोई ऐसी अपूर्व अनुभूति हुई कि जिसकी शांति का वेदन वाणी में नहीं आ सकता। आत्मा का जीवन ही पलट गया। अहा! मोक्षसाधिका माताजी के प्रताप से मेरा भी मोक्ष का द्वार खुल गया, मेरी आत्मा धन्य बन गई। बस, तभी से मैं आर्यिका माताजी के साथ में ही रहती हूँ और आर्यिका बनने की भावना भा रही हूँ।—धन्य माताजी! पूर्ण रसगुल्ला तो प्राप्त नहीं हुआ किंतु उसके एक अंश का स्वाद चख ही लिया। अहा! मोक्ष का द्वार खुल गया। अब तो शीघ्र ही उसमें प्रवेश कर अनंत सुख को प्राप्त करूँगी।

“जय सम्यग्दर्शन”

# श्री मुनिराज के साथ में

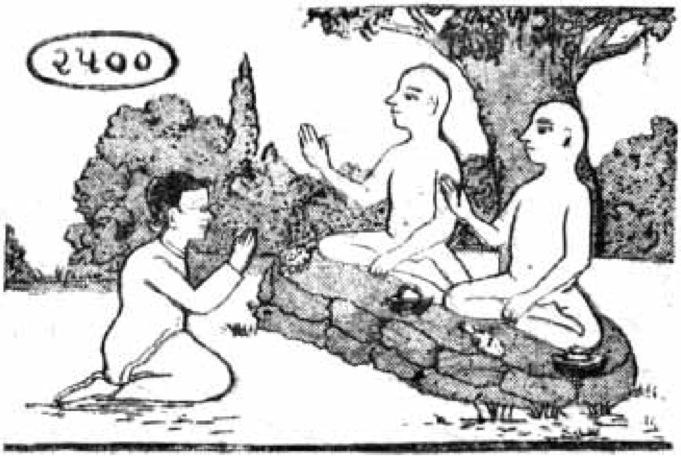


*[तीर्थराज सम्मेदशिखर जैसे कोई उपशांतधाम में निवृत्तिपूर्वक रहते हुए मुमुक्षु को कभी महाभाग्य से रत्नत्रयधारी दिगंबर मुनिभगवंत का दर्शन प्राप्त हुआ, मुनिदर्शन से उसे महाप्रसन्नता हुई, और उनके सत्संग में रहकर आत्महित की अनेकविध चर्चा की। कैसी चर्चा की? उसका एक नमूना आप यहाँ पढ़ेंगे... और आपको भी प्रसन्नता होगी। (संपादक)]*

मुमुक्षु ने श्री मुनिमहाराज को देखते ही अत्यंत हर्षपूर्वक वंदना की, और कहा—हे प्रभो! महाभाग्य से आज मुझे आपका दर्शन हुआ। आपके सत्संग में मेरी आत्मभावना अवश्य पूरी होगी। हे गुरुदेव! रत्नत्रय की अनुभूतिस्वरूप हुआ आत्मा आपके अंतर में विराज रहा है, तो कृपाकर मुझे भी यही दिखलाइये कि ऐसी अनुभूति किसप्रकार हो?

बड़े मुनिमहाराज ने जिज्ञासु का प्रश्न सुनकर प्रसन्नता व्यक्त की और आशीर्वादपूर्वक कहा—मुमुक्षु! अनुभूति की महिमा बहुत गंभीर है। आत्मा स्वयं ज्ञान की अनुभूतिस्वरूप है। उसकी ज्ञान की अनुभूति में राग की अनुभूति नहीं है;—ऐसा स्पष्ट भेदज्ञान करके बारबार चिंतन करने से अपूर्व स्वानुभूति प्रगट होती है।

मुमुक्षु फिर पूछता है कि—हे स्वामी! ऐसी अनुभूति होने पर क्या होता है?

मुनिराज ने कहा—सुनो, वत्स! तुम्हारी जिज्ञासा उत्तम है। अनुभूति होते ही आत्मा अपने आप में स्थित हो जाता है; उसमें अनंत गुण के चैतन्यरस का ऐसा गंभीर वेदन होता है कि जिसके महान आनंद को वह आत्मा ही जानता है। यह वेदन वाणी में नहीं आ सकता।

[अहा, सम्मेदशिखर जैसे सिद्धिधाम में, दिगम्बर मुनिराज के श्रीमुख से स्वानुभूति की ऐसी अद्भुत चर्चा सुनते-सुनते मुमुक्षु का आत्मा जागृत हो रहा है; और सूक्ष्म स्वरूप जानने के लिये फिर-फिर पूछता है—]

प्रभो! वाणी में आये बिना उस वेदन की पहचान कैसे हो?

मुनिराज ने उत्तर दिया—हे वत्स! स्वयं अपने स्वसंवेदन से आत्मा को उसकी पहचान हो जाती है। जैसे यह सम्मेदशिखरजी पहाड़ नजरों से दिख रहा है, वैसे आत्मा अनुभूति में इससे भी अधिक स्पष्ट दिखता है।

मुमुक्षु ने आश्चर्य के साथ पूछा—हे देव! आँखों से सम्मेदशिखरजी दिखता है, उससे भी आत्मा के स्वसंवेदन को अधिक स्पष्ट कैसे कहा?

श्रीगुरु ने कहा—हे भव्य, सुनो! नेत्र से जो यह पहाड़ दिख रहा है, वह तो इंद्रियज्ञान है। अत: परोक्ष है, और आत्मा को जाननेवाला जो स्वसंवेदनज्ञान है, वह तो अतीन्द्रिय होने से प्रत्यक्ष है, अत: वह अधिक स्पष्ट है।

जब स्वानुभूति की अधिक गहराई में पहुँचकर वह मुमुक्षु पूछता है कि अनुभूति के समय तो मति-श्रुतज्ञान ही हैं (अवधि-मन:पर्यय नहीं है) फिर भी उन्हें प्रत्यक्ष तथा अतीन्द्रिय कैसे कहा?

श्री मुनिवरों को भी स्वानुभूति की स्वाध्याय में प्रसन्नता होती थी; उन्होंने कहा—वत्स! स्वानुभूति के समय उपयोग आत्मा में ऐसा लीन हुआ है कि इंद्रिय का तथा मन का आलंबन न रहा। अत: उस समय उसके प्रत्यक्षपना है। अहा, उस समय के अद्भुत निर्विकल्प आनंद की क्या बात?

स्वानुभूति की ऐसी सुंदर स्पष्टता समझकर मुमुक्षु ने परम उपकारबुद्धि से कहा अहो भगवन! आपने अनुभूति की अद्भुत बात समझायी। यह समझकर आज मेरे को अलौकिक चैतन्यरस का प्रतिभास हो रहा है। आपके मुख से मानों चैतन्य का अमृत ही झरता था। मेरे महाभाग्य से आप मिले और आपने मुझे अनुभूति का रहस्य समझाया; तो अब मैं भी अवश्य ऐसी अनुभूति प्रगट करूँगा और आपके संग में रहूँगा।

श्री मुनि महाराज ने आशीर्वाद देते हुए प्रसन्नता से कहा—हे मुमुक्षु, धन्य है तेरी भावना! तेरे को शीघ्र ही अनुभूति का महान लाभ होगा।

'अहो देव! मेरे जैसे भव्य जीवों को अनुभूति का मार्ग दिखाकर आप महान उपकार कर रहे हो। मैं बहुत भाग्यशाली हूँ कि आपकी सेवा करने का और आपके साथ में रहने का सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ है। मेरी तीर्थयात्रा सचमुच में सफल हुई।

[आखिर में उस मुमुक्षु ने आत्म लगनी के बल से स्वानुभूति प्राप्त कर ली, और मुनिसंघ के साथ में ही रहता हुआ मुनिपद की भावना भाने लगा।

## याद रखिये... और... सहयोग दीजिये

आपके हाथ में आपका प्रिय 'आत्मधर्म है, जो इसी अंक के द्वारा अपना ३०वाँ वर्ष समाप्त करता हुआ ३१वें वर्ष में मंगल प्रस्थान कर रहा है।

आपका अगली साल का लवाजम पूर्ण हो चुका है, तदुपरांत नये वर्ष का भी एक अंक अभी आपके हाथ में ही है; अत: अब इस वर्ष का लवाजम छह रुपये आप शीघ्रता से भेजकर हमें व्यवस्था में सहकार दीजिये। M.O. के फार्म के कूपन में आपका स्पष्ट पता लीखिये। पता : आत्मधर्म कार्यालय, SONGAD (364250) (सौराष्ट्र) और याद रखिये–अब अगला अंक ज्येष्ठ मास का होगा–जो जुलाई मास की पाँचवीं तारीख को पोस्ट होगा।

## [ निर्वाणमहोत्सव की निबंधयोजना में भाग लेनेवाले हमारे भाई-बहन ]

श्री भगवान महावीर का ढाई हजार वर्षीय निर्वाणमहोत्सव चल रहा है; इसके अनुसंधान में, मुमुक्षु को आत्महित की भावना पुष्ट हो तथा त्याग भावना जागृत हो—ऐसे लक्ष से 'मुनिवरों के साथ में' तथा 'श्री आर्जिका माताजी के साथ में' इस विषय पर निबंध की जो योजना आत्मधर्म बालविभाग की ओर से प्रस्तुत की गई थी, उसमें कुल ६७ निबंध (हिंदी-गुजराती में) आये हैं। निबंध लिखनेवाले भाई-बहनों के नाम धन्यवाद के साथ यहाँ दिया है। निबंधों की जाँच एक-दो माह में पूरी होगी, तब उसकी सूचना आत्मधर्म में प्रकाशित की जायेगी। (संपादक)

"શ્રી મુનિરાજની સાથે"

| લેખ નં. | નામ | ગામ |
|---|---|---|
| ૧ | પ્રદિપ પ્રાણુલાલ જૈન | દાદર |
| ૨ | શાંતિલાલ કપુરચંદ શાહ | કલકત્તા |
| ૩ | પ્રકાશ મનસુખલાલ જૈન | કલકત્તા |
| ૪ | ઇન્દુલાલ રતિલાલ સંઘવી | મોરબી |
| ૫ | અમૃતલાલ જે. શાહ | પ્રાંતિજ |
| ૬ | શાંતિલાલ માણેકચંદ મહેતા | જામનગર |
| ૭ | रूपचंदसा बालचंदसा जैन | मलकापुर |

"આર્જિકા માતાની સાથે"

| લેખ નં. | નામ | ગામ |
|---|---|---|
| ૧ | બ્ર. મૈનાબેન જૈન | સોનગઢ |
| ૨ | બંનુમતિ વછરાજ પારેખ | રાજકોટ |
| ૩ | કંચનબેન વાલજીભાઈ જૈન | લીંબડી |
| ૪ | હર્ષાબેન પ્રફુલ્લચંદ્ર જૈન | મલાડ |
| ૫ | લલિતાબેન જૈન | રાણુપુર |
| ૬ | સમતાબેન રતિલાલ હોલકર | સોનગઢ |
| ૭ | ब्र. ताराबेन जैन | खैरागढ़ |

## “શ્રી મુનિરાજની સાથે”

| | | |
|---|---|---|
| ૮ | કાંતિલાલ રતિલાલ શાહ | લીંબડી |
| ૯ | વસંતરાય જે. મહેતા | વાંકાનેર |
| ૧૦ | અશ્વિન ડાહ્યાભાઈ મહેતા | સુરત–૩ |
| ૧૧ | જયેશ હિંમતલાલ શેઠ | લીંબડી |
| ૧૨ | જીતેન્દ્ર મનસુખલાલ અજમેરા | સોનગઢ |
| ૧૩ | લલિત મનસુખલાલ અજમેરા | સોનગઢ |
| १४ | भानुकुमार जैन | ललितपुर |
| ૧૫ | શશીકાંત શાંતિલાલ મહેતા | મુંબઈ–૭૭ |
| १६ | गुलाबचंद पांड्या | भोपाल |
| ૧૭ | રવજીભાઈ ગોવિંદભાઈ પટેલ | મુંબઈ-૬૬ |
| ૧૮ | મનસુખલાલ દાનજીભાઈ ગોહિલ | ભાવનગર |
| १९ | मोतिलालजी सिंघई | दमोह |
| ૨૦ | જેઠાલાલ હીરાચંદ શાહ | ચોરીવાડ |
| २१ | अरुणकुमार बाबूलालजी जैन | गुना |
| ૨૨ | મહાકાંત રમણીકલાલ સંઘવી | સુરેન્દ્રનગર |
| ૨૩ | હિંમતલાલ વરજીવનદાસ વકીલ | બોરસદ |
| ૨૪ | પ્રકાશ અમૃતલાલ શાહ | ફતેપુર |
| ૨૫ | રમણિકભાઈ ફૂલચંદ મહેતા | વલસાડ |
| २६ | प्रमोदकुमार केशरीचंद जैन | खंडवा |
| ૨૭ | શૈલેશ અનંતરાય ગાંધી | સોનગઢ |
| २८ | चन्द्रकुमार जैन | शिवपुरी |
| ૨૯ | રંજનબેન વાડીલાલ જૈન | વઢવાણસીટી |

## “આર્જિકા માતાની સાથે”

| | | |
|---|---|---|
| ૮ | સવિતાબેન કોઠારી | બેંગ્લોર–૩ |
| ૯ | ભારતીબેન નંદલાલ શાહ | લીંબડી |
| ૧૦ | હર્ષાબેન હિંમતલાલ શેઠ | લીંબડી |
| ૧૧ | મંગળાબેન વાડીલાલ જૈન | લીંબડી |
| १२ | मालतीबेन रमेशचंद्र जैन | छिन्दवाडा |
| ૧૩ | પ્રફુલ્લાબેન લાલચંદ જૈન | લીંબડી |
| १४ | सुधाबेन बी. पाटनी | छिन्दवाडा |
| १५ | उषाबेन संघी | जयपुर–४ |
| १६ | शकुंतलाबेन चौधरी | उदयपुर |
| ૧૭ | સવિતાબેન ભોગીલાલ શાહ | અમદાવાદ-૨૨ |
| ૧૮ | કલ્પનાબેન લાલચંદ જૈન | લીંબડી |
| ૧૯ | સુવર્ણાબેન લાલચંદ જૈન | ,, |
| ૨૦ | કીર્તિદાબેન અમરચંદ મહેતા | વાંકાનેર |
| २१ | कुन्तीकुमारी सुमेरचंदजी सिंघई | दमोह |
| २२ | कृष्णादेवी चौधरी | उदयपुर |
| ૨૩ | મંજુલાબેન મનસુખલાલ અજમેરા | ભાવનગર |
| ૨૪ | કસ્તુરબેન એન. લોદરીયા | સોનગઢ |
| ૨૫ | નિલાબેન ત્રિકમલાલ શાહ | સુરેન્દ્રનગર |
| २६ | शान्तिबेन जैन | सागर |
| २७ | मीनाबेन सुमेरचंदजी सिंघई | दमोह |
| ૨૮ | શકરીબેન છોટાલાલ મહેતા | નિકોડા |
| ૨૯ | ચંદ્રીબેન વાડીલાલ મહેતા | નિકોડા |

## “આર્જિકા માતાની સાથે”

| | | |
|---|---|---|
| ૩૦ | ચંપાબેન ચંદુલાલ જૈન | નિકોડા |
| ૩૧ | રંજનબેન ચંદુલાલ જૈન | નિકોડા |
| ૩૨ | મંગુબેન અમૃતલાલ શાહ | ફતેપુર |
| ३३ | मैनादेवी चौधरी | देवास |
| ३४ | मीनुबेन चौधरी | देवास |
| ૩૫ | રંજનબેન જીવરાજભાઈ પારેખ | લીંબડી |
| ૩૬ | ચંદ્રીકાબેન એસ. શાહ | મુંબઈ–૨ |
| ૩૭ | હંસાબેન પ્રમોદરાય મહેતા | મુંબઈ–૫૬ |
| ३८ | जयश्रीबेन केशरीचंद जैन | खंडवा |

# आत्मसन्मुख जीव और सम्यक्त्व की अपूर्व क्षण

**[ सम्यक्त्व-जीवन लेखमाला : लेखांक १४ तथा १५ ]**

— और इसके पश्चात् एक ऐसी क्षण आती है कि आत्मा कषायों से छूटकर चैतन्य के परम गंभीर शांतरस में मग्न हो जाता है... अपना अत्यंत सुंदर महान अस्तित्व पूरा का पूरा स्वसंवेदनपूर्वक प्रतीत में आ जाता है।—बस, यही है सम्यग्दर्शन! यही है मंगल चैतन्यप्रभात! और यही है भगवान महावीर का मार्ग!

अहा, इस अपूर्वदशा का क्या कहना? प्रिय साधर्मीजन! आनंद से आओ प्रभु के मार्ग में! (संपादक)

अनादि से चार गति में भ्रमण करता जीव मोह से-कषाय से दुःखी हो रहा है; दुःख में भ्रमण करते वह श्रमित हुआ और उसको विश्राम की-शांति की झंखना पैदा हुई; वह सुख-शांति की खोज करने लगा। वहाँ महान पुण्ययोग से उसे सच्चे देव-गुरु की भेंट हुई। गुरु के चरणों में सर्वस्व अर्पण किया, उनकी आज्ञा शिरोमान्य की; और आत्मा के हित की जिज्ञासा से गुरु से सविनय प्रश्न किया—'हे प्रभो! मेरे आत्मा को शांति कैसे हो? पुण्य-पाप करके चारों गति में भ्रमण करते-करते मैं थक गया, फिर भी मुझे कहीं भी शांति न मिली; तो वह शांति कहाँ छिपी हुई है?—यह मुझे बताईये; क्योंकि आपका आत्मा शांति को प्राप्त हुआ है। अतः आप ही मुझे उसका सच्चा मार्ग बतलायेंगे।' इसप्रकार गुरु पर विश्वास होकर शिष्य ने पूछा। तब गुरु उस सच्चे जिज्ञासु को कुछ भी बात गोप्य रखे बिना ऐसा तत्त्व समझाते हैं कि जो समझने से जीव को अवश्य अपूर्व शांति प्राप्त हो।

शिष्य यह सुनकर न्याय और युक्ति से आत्मा के स्वरूप के बारे में सोचता है। और गुरु के बताये अनुसार अंतर के वेदन में शांति की खोज करता है। उसको गृहीत मिथ्यात्व छूट गया है, अर्थात् वह अब विपरीत मार्ग पर नहीं जाता; जिनमार्गानुसार

नवतत्त्व का श्रद्धान वह करता है; जड़ और चेतन का वह भेदज्ञान करता है। चैतन्यभाव और रागभाव की भिन्नता का वह गहरा चिंतन करता है; द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म रहित ऐसे शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को लक्ष में लेता है; उसमें उसको शांति दृश्यमान होती है, सो उसे आत्मा की ही धुन लगी है; और अन्य सभी से उदासीनता बढ़ती जाती है। बार-बार आत्मा का स्मरण-चिंतन करके परिणाम को शांत करता जाता है। देव-गुरु को देखकर उनकी अतीन्द्रिय शांति को लक्षगत करता जाता है। शास्त्र में से भी शांतरस को ही पुष्ट करता जाता है; इसप्रकार उसे देव-गुरु-शास्त्र की ओर उत्साह भी बढ़ता जाता है और उनमें अधिकाधिक गहराई दृश्यमान होती है। आत्मरस ऐसा मधुर मालूम होता है कि संसार का महान प्रलोभन भी उसे आत्मरस से च्युत नहीं कर सकता। कैसे भी प्रतिकूल संयोग आ पड़ें, फिर भी कषाय का रस बढ़ाये बिना वह समाधान कर लेता है। संसार के मिथ्या सुखों के पीछे अब यह पागल नहीं होता, भीतर से उसका रस छूट गया है, सो उसके लिये तीव्र आरंभ-समारंभ या अनीति-अन्याय भी वह नहीं करता। निवृत्तिपूर्वक तीर्थस्थानों में या सत्संग में रहकर आत्मसाधना करना उसे सुहाता है। वह उपयोग को निर्विकल्प करने के लिये तथा आत्मा की अनुभूति के लिये आत्मा की ओर आगे बढ़ता जाता है। विचारधारा को विशेष-विशेष सूक्ष्म करके आत्मा को परभावों से भिन्न करता है, अनेक प्रकार से आत्मा की सुंदरता और गंभीरता लक्ष में लेता है। अहो, मेरा आत्मतत्त्व कोई अगाध गंभीर अद्‌भुतभावों से पूर्ण है, अनुभव करने में कौन से परिणाम मेरे को विघ्न कर रहे हैं ? तत्संबंध में बिना दंभ किये सरलता से अपने परिणाम का संशोधन करता है और विघ्नकारी परिणामों को तोड़कर स्वरूप में पहुँच जाता है। नव तत्त्वों का स्वरूप समझकर उनमें से सारभूत तत्त्व का ग्रहण करता है। इसप्रकार स्वभाव का ग्रहण करता और परभावों को पृथक् करता वह जीव अंत में सर्व परभावों से भिन्न, और निज स्वभावों से परिपूर्ण ऐसे आत्मतत्त्व को खोज करके उसका सम्यग्दर्शन कर लेता है; उसके मुक्ति के दरवाजे खुल जाते हैं।

## सम्यग्दर्शन होने के बाद—

अहो, यह आत्मपुरुषार्थी जीव अपने स्वकार्य को साधने में सफल हुआ। उसका ज्ञान विकल्प से अलग हुआ; आत्मा का साक्षात् दर्शन उसको हुआ; अपने सत्यस्वरूप का ज्ञान हुआ; परिणाम में कषाय रहित अपूर्व शांति हुई। प्रथम अपूर्व क्षण के उस निर्विकल्प अनुभव के समय उपयोग इंद्रियातीत होकर अपने आत्मा को ही चेतता था। 'मुझमें सम्यक्त्व प्रगट हुआ है और मेरा आत्मा शांति का वेदन करता है'—ऐसा भेद भी उस वक्त नहीं रहा था; आत्मा स्वयं अनंत गुण की अनुभूतिस्वरूप ही था; पूर्व में कभी अनुभव में नहीं आयी—ऐसी अपूर्व शांति का वहाँ वेदन होता था! बाद में उपयोग अनुभूति में से बाहर आने पर भी वह उपयोग रागादिक परिचय से अत्यंत दूर रहता है—राग की दोस्ती उसने सर्वथा छोड़ दी है, अत: राग के समय भी वह उससे अलग रहता है—ऐसे भिन्न (रागरहित) उपयोगस्वरूप से धर्मी सदा निज का अनुभव करता है—श्रद्धा करता है—पहचानता है, अत: राग के समय भी उसके सम्यक्त्वादि भाव जीवंत रहते हैं, बिगड़ते नहीं। देह से और राग से, सभी से भिन्न उपयोगपरिणमन द्वारा आत्मा को मुक्तस्वरूप से अनुभव करता है। अहो, यह दशा कोई अनुपम अनोखी अद्भुत है।

ऐसी स्वानुभवदशा होते ही अंतर में खुद को पक्का निश्चय हो चुका कि अब मैं मोक्ष के मार्ग में हूँ; अब संसार के मार्ग में नहीं हूँ, अब मेरे भव का अंत आ गया; अब मैं सिद्ध भगवान के समाज में शामिल हो गया। भले ही मैं छोटा हूँ, अभी मेरा साधकभाव अल्प है, तो भी मैं सिद्धभगवान की जाति का ही हूँ। अनुभव में से बाहर निकलने के बाद जो विकल्प उठता है, उससे ज्ञान को भिन्न ही जानता है, अत: ज्ञान स्वयं निर्विकल्प ही रहता है। वह ज्ञान और विकल्प की एकता नहीं करता, ऐसा उसका अकर्ताभाव है। ज्ञानभाव को ही करता हुआ वह सदा तृप्त और प्रसन्न-प्रशांत रहता है। ज्ञान के प्रताप से उसका चित्त बिल्कुल शांत होकर, कषायरहित शीतल चंदन के समान शोभायमान होता है और जिनदेव के मोक्षमार्ग में वह आनंद सह क्रीड़ा करता है—ऐसा वह सम्यग्दृष्टि वंदनीय है—

भेदविज्ञान जग्यो जिन्हके घट, शीतल चित्त भयो जिम चंदन।
केली करे शिव मारग में; जगमांहि जिनेश्वर के लघुनंदन॥
सत्यस्वरूप सदा जिन्ह के प्रकटयो अवदात मिथ्यात्व निकंदन।
शांतदशा तिन्ह की पहिचानी, करे कर जोरी बनारसी वंदन॥

अपने अचिंत्य आत्मवैभव को निज में देखकर धर्मी परम तृप्ति का अनुभव करता है। अहो, आत्मा का पूर्ण वैभव हस्तगत हो गया (अनुभव में आ गया) उसके पास संसार के अन्य वैभव अत्यंत तुच्छ दिखते हैं। वह सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा कदाचित् गृहस्थ भी हो, परिवारसहित हो और व्यापार-रोजगार भी करता हो किंतु फिर भी उसकी ज्ञानचेतना उन सबसे जलकमलवत् अलिप्त रहती है, अत: वह कर्मों से लिप्त नहीं होता परंतु छूटता ही जाता है। यह सब सम्यक्त्व का ही प्रताप है—ऐसा जानकर हे भव्य जीवो! तुम परम आदरभाव से सम्यक्त्व की आराधना करो, और सुखमय जीवन जीओ।

सम्यक्त्वजीवन ही सुखमय जीवन है।

❀❀❀❀

## [ सम्यक्त्वजीवन : लेखांक १५ : सम्यक्त्व की अपूर्व क्षण ]

यह जीव संसार में अनादिकाल से भटका है, सो केवल एक आत्मा के ज्ञान बिना। जीव ने अनेकबार पुण्य-पाप के परिणाम किये हैं, उसमें कुछ आश्चर्य या विस्मय की बात नहीं। और इन पुण्य-पाप की बात भी उसे बारबार सुनने को मिलती है, अत: उसका कोई महत्त्व नहीं है, उसमें कुछ हित नहीं है।

अब किसी महान पुण्योदय से जीव को अपने शुद्धस्वरूप की, अर्थात् पुण्य-पाप से पार चैतन्यस्वरूप की बात सुनने को मिली।

ज्ञानी-गुरु के पास से आत्मा का स्वरूप सुनते ही अपूर्वभाव जागृत हुआ कि अहो! ऐसा मेरा स्वरूप है! ऐसा महान सुख-शांति-आनंद-प्रभुता तथा चैतन्यभंडार

स्वयं मुझमें ही भरा पड़ा है। ऐसा जानकर उसे भारी आश्चर्य होता है। आत्मा का अपूर्व प्रेम जागृत होता है। और ऐसा सुंदर अद्भुत स्वरूप बतानेवाले देव-गुरु का वह अपार उपकार मानता है। उसको आत्मा की धुन लगती है कि बस, मेरा ऐसा आत्मस्वरूप है, उसे अब किसी भी यत्न से मैं जान लूँ और अनुभव में ले लूँ। इसके बिना मुझे और कहीं भी शांति नहीं होगी। अब तक मैं निज को भूलकर परेशान हुआ। परंतु अब भवकट्टी करके मोक्ष को साधने का अवसर आ चुका है।

— इसप्रकार आत्मा की सच्ची जिज्ञासापूर्वक वह जीव तत्त्वज्ञान का अभ्यास करता है। मैं कौन हूँ? पर कौन है? हित क्या है? अहित क्या है? इसप्रकार वह भेद का अभ्यास करता है; आत्मा को देहादि से भिन्न लक्ष में लेकर अपने परिणाम को बारबार आत्मसन्मुख मोड़ने का प्रयत्न करता है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये उस मुमुक्षु का रहन-सहन तथा विचारधारा सतत एक ही आत्मवस्तु की ओर केन्द्रित होने लगती है; अत: उसका रहन-सहन दूसरे जीवों से भिन्न प्रकार का होता है। उसे आत्मा के सिवा अन्यत्र कहीं पर रस नहीं आता। सर्वत्र निरसता मालूम होती है; उसे तो बस एक आत्मसन्मुख होना ही सुहावता है। उसके परिणाम में एक प्रकार का परिवर्तन हो जाता है। वह भगवान का दर्शन-पूजन-स्वाध्याय-चिंतन-मुनिसेवा-दान आदि कार्यों में प्रवर्तता है, परंतु उसमें भी आत्मा को कैसे समझूँ—यही ध्येय मुख्य रखता है। इसप्रकार सतत आत्मजागृति के द्वारा उस ओर वह आगे बढ़ता है। कभी-कभी आत्मा में नवीन भावों की स्फुरणा होने पर उसको आंतरिक उत्साह उछल पड़ता है, उसमें से चैतन्य की चिंगारी झलक उठती है।

अनादि से नहीं जाने हुए आत्मा को जानने से उसे परम उल्लास और अपूर्व तृप्ति होती है कि अहो! मुझे अपना ऐसा अद्भुत निजपद प्राप्त हुआ।

आत्मा का सच्चा जिज्ञासु होकर उसके लिये जो मनुष्य उद्यम करता है, उसका उद्यम अवश्य सफल होता है, और उसे आत्मा की प्राप्ति होती है, महान सुख होता है। अत: जिसप्रकार धन का अभिलाषी राजा को पहचानकर श्रद्धापूर्वक उसकी सेवा करता है, वैसे मुमुक्षु को ज्ञानस्वरूप जीव राजा को पहचानकर श्रद्धापूर्वक सर्व उद्यम के द्वारा उसका सेवन करना चाहिये—इससे आत्मा की अवश्य सिद्धि होती है।

सर्वप्रथम उस पद को पाने के लिये उसकी अपार महिमा भासती है; जिसका अनुभव पहले कभी नहीं हुआ, ऐसे अभूतपूर्व आनंद की अनुभूति के लिये उसे मस्ती जागृत होती है। ज्ञानी की अद्भुत मस्ती को ज्ञानी ही पहचानता है। जिसको उसका स्वानुभव प्राप्त हो, उसे ही उसका भान होता है। बाकी वाणी से, बाह्य चिह्नों से या राग से उसकी पहचान नहीं हो सकती। ज्ञानी की स्वानुभूति का पथ जगत से निराला है। उसकी गंभीरता उसके अंतर में ही समायी रहती है। वह अकेला ही अंतर में आनंद का अनुभव करता हुआ मोक्षपथ पर चला जा रहा है; उसे जगत की परवाह नहीं रहती। धर्म के प्रसंग में तथा धर्मात्मा के संग में उसको विशिष्ट उल्लास आता है।

जिनमार्ग के प्रताप से मुझे अपना स्वरूप प्राप्त हुआ; आत्मा में अपूर्व भाव जागृत हुए; अब इस स्वरूप को पूर्णत: प्रकट करके अल्पकाल में ही मैं परमात्मा बन जाऊँगा, और इस संसार चक्र से छूटकर मोक्षपुरी में जाऊँगा। जहाँ हमेशा के लिये सिद्धालय में अनंत सिद्धों के साथ विराजमान होऊँगा। वाह.... धन्य है उस दशा! उसका मंगल प्रारंभ हो चुका है।

[सम्यक्त्व-जीवन की यह लेखमाला अगले अंक में पूर्ण होगी।]

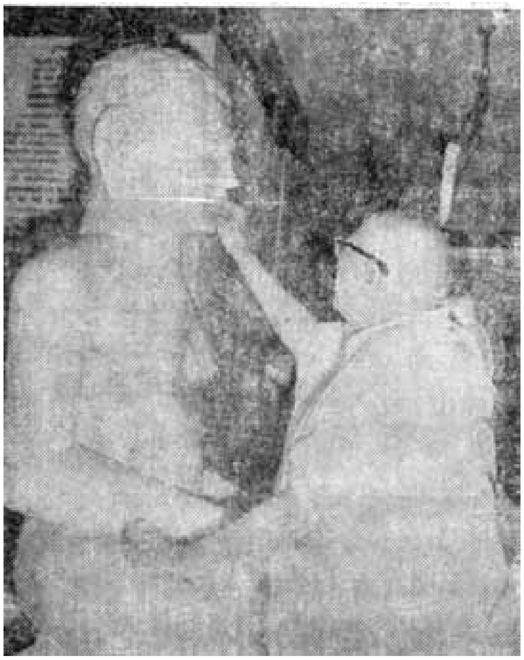

साधक-हृदय विराजो प्रभुजी!
रत्नत्रय दातारा....
भक्तजनों सौ भक्ति करते
आवे मारगे तेरा....

# एक जिज्ञासु ( ललितपुर ) के प्रश्नों का स्पष्टीकरण

* क्या पूजा-पाठ-व्रत-उपवास जड़ की क्रिया है ? नहीं; पूजादिक तो जीव के परिणाम हैं; उस समय साधक जीव में दो क्रिया एकसाथ चलती हैं-एक ज्ञान की क्रिया जो कि वीतराग होने से मोक्ष का कारण है; दूसरी शुभराग की क्रिया जो कि बंध का कारण है। पूजनादि को हम जड़ की क्रिया नहीं कहते।
* शास्त्रस्वाध्याय में भी हम स्वाध्याय को जड़ नहीं कहते, वह तो ज्ञान की परिणति है। शास्त्र के जो शब्द है, वह भले पुद्गल की परिणति है परंतु उसके वाच्यरूप जो चैतन्य तत्त्व है, उस वाच्य को लक्ष में लेने से स्वाध्याय का उत्तम फल मिलता है।
* जिसमें वीतरागता कूटकूट भरी हुई है, ऐसा त्याग तथा तपस्यारूप मुनिदशा मुमुक्षु को अत्यंत प्रिय लगती है, वह उससे दूर नहीं भागता, अपितु निरंतर उसकी भावना भाता रहता है। ऐसी दशावाले जीव को भी वह धन्य समझकर नमस्कार करता है।
* आत्मा का शुद्ध निश्चयस्वरूप जिसने लक्ष में लिया है, उसे ही त्याग-तप की सच्ची भावना होती है। शुद्धस्वरूप को जाने बिना त्याग के नाम पर राग ही होगा।
* जैन मुमुक्षु का सद्विवेक यही है कि, जैन सिद्धांत अनुसार प्रथम सम्यक्त्व के लिये ज्ञान और राग के स्वरूप की भिन्नता पहचानना, एक का अंश दूसरे में नहीं मिलाना। ऐसा भेदज्ञान ही सद्विवेक की कसौटी है। ऐसा भेदज्ञानी मुमुक्षु का वर्तन कभी स्वेच्छाचारी नहीं होगा, अपितु परम विवेक संपन्न ही होगा। और वह भी किसी को दिखाने के लिये नहीं, परंतु अपने आत्महित के लिये ही होगा। दुनिया बाहर की दशा देखती है, अंतर की अपूर्वदशा को नहीं देखती।
* अनेकांत में अनंत स्वभावों की जो गंभीरता भरी है, उसे स्वानुभवी-ज्ञानी ही जानते हैं। भगवान महावीर के मार्ग के रहस्यभूत अनेकांतस्वरूप ऐसा नहीं है कि स्वानुभूति से रहित अज्ञानी भी उसको जान सके। भेदज्ञानी-सम्यग्दृष्टि ही अनेकांत के सच्चे रहस्य को जानता है, और स्वानुभव करके मोक्ष को साधता है। वह मिथ्या रूढ़िवाद का आश्रय नहीं करता। जैनमार्ग का अनेकांतसूचक स्याद्वाद लोकरंजन के लिये नहीं है।
* स्याद्वाद को वही समझ सकता है-जो आत्मसाधना करके वस्तुस्वरूप को जानता है और सम्यग्ज्ञान करता है। सम्यग्ज्ञान के बिना अनेकांत कैसा ? अत: सबसे पहले आत्मा को पहचानो। यही वीर का मार्ग है, यही वीर का उपदेश है।

॥ जय महावीर ॥

# जिनबिंब–प्रतिष्ठा... तीर्थयात्रा... प्रभावना... धर्मचक्रविहार महावीर–जन्मोत्सव... ज्ञानशिविर... जन्मजयंती

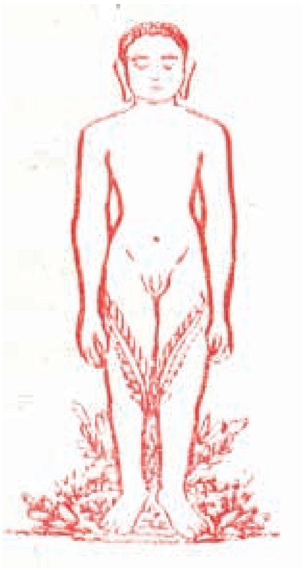

बैंगलोर शहर में चैत्र सुद १३ के मंगल दिन धामधूम से भगवान महावीर का जन्मोत्सव मनाया गया, और बड़े भव्य जिनमंदिर में मंगल प्रतिष्ठा पूज्य श्री कानजीस्वामी के हस्त से हुई; तथा मनोहर समवसरण–सभा में भी मंगल प्रतिष्ठा हुई। इसके बाद भगवान बाहुबली (श्रवणबेलगोला) की महान यात्रा संघसहित हुई। अहा! वीतराग ध्यान में स्थित मुनिराज! मानों भक्तों के सिर पर हाथ पसार कर मंगल आशीर्वाद दे रहे हैं। भगवान की अडिग आत्मसाधना देखकर मुमुक्षु को भी आत्मा को साधने की वीरता जागती है। अहो! हजार वर्ष में करोड़ों भव्यजीवों ने आपकी परम शांत वैराग्यमुद्रा देखकर वीतरागता की तथा मोक्षमार्ग की प्रेरणा ली है; आप विश्व के लिये वीतरागी अजायबी हो।

साधकदशा कैसी अद्भुत होती है !—यह देखना हो तो देख लो बाहुबली को।

साधक संसार से कैसा अलिप्त होता है !—यह देखना हो तो देख लो बाहुबली को।

चैतन्यपद में कितनी शांति भरी है !—यह देखना हो तो देख लो बाहुबली को।

साधक कैसा शूरवीर होता है !—यह देखना हो तो देख लो बाहुबली को।

[अभी थोड़े ही साल में भगवान बाहुबली की प्रतिष्ठा को एक हजार वर्ष पूरा होगा।]

धन्य बाहुबली आत्महित में छोड़ दिया परिवार कि तुमने छोड़ा सब संसार।

धन छोड़ा वैभव सब छोड़ा जाना जगत असार... कि तुमने जाना जगत असार॥

❀ ❀ ❀

तारीख २८–३–७५ को गुरुदेव खण्डवाशहर पधारने पर भव्य स्वागत हुआ। यहाँ परस्पर वात्सलता देखकर प्रसन्नता होती थी। इसी प्रसंग पर सिद्धचक्र मंडलविधान की पूर्णता

हुई थी। प्रवचन के द्वारा शुद्ध ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा की महिमा हजारों जिज्ञासुओं के अंतर में गूँज रही थी; और सर्वत्र यह प्रसिद्ध हो रहा था कि वीतराग जैनमार्ग ही आत्महित का सच्चा मार्ग है।

✻ तारीख ३१ मार्च को भक्ति करते–करते नौकाविहारपूर्वक सिद्धवरकूट–सिद्धिधाम की यात्रा २५० यात्रिकों के संघसहित गुरुदेव ने हर्षोल्लासपूर्वक की थी। सिद्धवरकूट नर्मदा (रेवा) के तट पर एक अत्यंत रमणीय, उपशांत वातावरणवाला सिद्धक्षेत्र है, जहाँ से दो चक्रवर्ती (सनतकुमार और मधवा) दस कामदेव तथा साढ़े तीन करोड़ मुनिवर मोक्ष पधारे हैं। यदि आप इस तीर्थ का रोमांचक वर्णन पढ़ना चाहते हो तो—

'मंगलतीर्थयात्रा' नामनुं गुजराती पुस्तक वांचो. आ पुस्तकमां सम्मेदशिखर वगेरे अनेक तीर्थोनी यात्रानुं पण अति रोमांचक अभूतपूर्व वर्णन छे.

✻ गुजरात के धर्मचक्र यात्रासंघ ने हजार से अधिक यात्रियों के साथ सम्मेदशिखरजी महान तीर्थ की यात्रा बहुत आनंदोल्लासपूर्वक की। पूजन–भक्ति का तथा शास्त्रसभा का कार्यक्रम बहुत प्रभावक था। भगवान महावीर के ढाई हजारवर्षीय निर्वाणमहोत्सव की मंगलमय स्मृति में इस सिद्धक्षेत्र में श्री महावीर–कुन्दकुन्द–प्रवचन मंडप बनाने के लिये यात्रिकों ने एक लाख उपरांत के दान की घोषणा की। भगवान महावीर का हमारे ऊपर इतना बड़ा भारी उपकार है कि जिसका मूल्यांकन स्वात्मानुभूति के बिना अन्य किसी के द्वारा नहीं हो सकता।

✻ धर्मचक्र कलकत्ता–चंपापुर–खंडगिरि–पावापुरी–राजगृही आदि की यात्रा करता हुआ, तथा मद्रास से पोन्नूर तीर्थधाम की भी यात्रा करता हुआ, बेंगलोर पंचकल्याणक–महोत्सव में पहुँच गया था; तथा चैत्र सुद त्रयोदशी को भगवान महावीर का मंगल जन्मोत्सव एवं प्रतिष्ठा महोत्सव बड़ी धामधूम से मनाया गया था; विमान से पुष्पवृष्टि भी हुई थी। इसके बाद संघ के यात्रिकगण श्रवणबेलगोला में भगवान बाहुबली की यात्रा में भी शामिल हुए थे। अब यह संघ धर्मचक्रसहित बम्बई होकर अहमदाबाद पहुँच रहा है।

✻ पूज्य गुरुदेव तारीख ५–४–७५ को मद्रास पहुँचे थे और वहाँ चैत्र वद (गुजरात के

अनुसार फाल्गुन वद) दसमी के मंगल दिन जिनमंदिर का भव्य शिलान्यास हुआ था।

✻ श्री महावीर धर्मचक्र की प्रभावना का विशेष समाचार आहारजी तीर्थ, युवौनजी, वाराणसी, नागपुर आदि अनेक जगह से आया है। धर्मचक्र द्रोणगिरि–सिद्धक्षेत्र पर आया तब, मध्यप्रदेश में डाकूगिरि को छोड़ देनेवाले मूरतसिंह ने खुली जेल से अधिवेशन के मंच पर आकर प्रसन्नतापूर्वक गद्‌गद् भाव से धर्मचक्र का स्वागत किया था; एक डाकू के हृदय परिवर्तन का यह दृश्य रोमांचकारी था, और वह प्रसिद्ध कर रहा था कि भगवान महावीर का धर्मचक्र सर्व जीव हितकारी है।

✻ पूज्य गुरुदेव के बड़नगर पधारने पर उल्लासपूर्ण कार्यक्रम रखा गया था; प्रवचन–भक्ति इत्यादि कार्यक्रम में जैनसमाज ने उल्लासपूर्वक भाग लिया था।

✻ चैत्र सुद त्रयोदशी के दिन भगवान महावीर का २५७३वाँ मंगल जन्मोत्सव दिवस बड़ी भारी धामधूम से भारत में सर्वत्र मनाया गया था; अनेक जगह सभी जैनों ने मिलकर संयुक्त धार्मिक जुलूस निकाला था। एक–दूसरे से मिलकर सभी आनंदित होते थे। अहा, हम महावीर की संतान, एक–दूसरे को देखकर तथा मिलकर हमें प्रसन्नता होती है। वात्सल्यपूर्वक हम एक–दूसरे से जितना अधिक मिलेंगे उत्सव मनाने में इतनी ही अधिक मजा आयेगी।

✻ सोनगढ़ का वातावरण परम शांतिमय है, मानों मुनियों के वनवास का ही स्थान हो। सोनगढ़ एकत्व भावना में झूल रहा है। महावीरप्रभु की मधुरी छाया सर्वत्र छाई हुई है, तो सीमंधर भगवान की मुद्रा भी शुद्धात्मभावना की प्रेरणा दे रही है। कहीं सुनकर नहीं लगता। परमागम में चारों ओर जिनवाणी तथा तीर्थक्षेत्र एवं ध्यानस्थ मुनिवरों के बीच जब हम बैठते हैं—तो बस! समझ लो कि हम मुनियों के संघ के साथ में ही रह रहे हैं। जहाँ देव–गुरु–शास्त्र विद्यमान हो वहाँ सुनकार कैसा?—वहाँ तो धार्मिक प्रसन्नता ही भरी पड़ी है।

✻ **कोटा** (राजस्थान) में दिनांक २४–५–७५ से ८–६–७५ तक वीतराग–विज्ञान शिविर का भव्य आयोजन है; इसके उपलक्ष में दिनांक १ से ८ जून तक पूज्य कानजीस्वामी कोटा पधारेंगे। (इससे पूर्व दिनांक १३ मई से १८ मई तक पंचकल्याणक–प्रतिष्ठा महोत्सव भी है।)

## 'आत्मधर्म' : आपकी प्रिय पत्रिका

* गुजराती तथा हिन्दी दोनों भाषा में प्रकाशित होती है। गुजराती का प्रकाशन प्रत्येक मास की २० तारीख को होता है; हिन्दी का प्रकाशन ५ तारीख को होता है। प्रत्येक का वार्षिक मूल्य ६/- रुपये है।

* हिन्दी का वर्षारंभ वैशाख मास से होता है। आपके हाथ में यह चैत्र-वैशाख का संयुक्तांक है। अर्थात् इसी अंक से पिछला वर्ष समाप्त हो रहा है और नया वर्ष प्रारंभ हो रहा है।

* नये वर्ष का यह प्रथम अंक आपको मिल चुका, अतः आपका नये वर्ष का लवाजम रु. ६) तुरंत निम्न पते पर भेजिये—[आत्मधर्म कार्यालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र) ३६४२५०]

* संपादक से पत्रव्यवहार का पता : ब्र. हरिलाल जैन, सं. आत्मधर्म सोनगढ़-३६४२५०

* चैत्र मास में आपको सुंदर विशेषांक देने की भावना थी, परंतु हम तैयार नहीं कर सके, अतः वह अंक विलंब से प्रगट हुआ, जिसके साथ वैशाख मास का अंक भी जोड़ दिया है। अतएव अब आगे का ज्येष्ठमास का अंक जुलाई मास की ५ तारीख को प्रगट होगा। जो कि ३१वें वर्ष का दूसरा अंक होगा। आप लवाजम शीघ्र भेजना न भूलिये।

* आत्मधर्म भारत के (एवं विदेश के भी) सभी मुमुक्षुओं की प्रिय पत्रिका है। भगवान महावीर के शासन का वह परम भक्तिभाव से उद्योत कर रही है। आत्मार्थिता की पुष्टि करना, साधर्मी वात्सल्य बढ़ाना, देव-गुरु-धर्म-शास्त्र की सेवा करके उनकी महिमा प्रसिद्ध करना, बालकों में उच्च धर्मसंस्कारों का पोषण करना-ये हैं हमारी पत्रिका के पवित्र उद्देश।

* आपका सहयोग-सलाह-सूचना भी आप भेज सकते हैं। सभी साधर्मीजन आत्मधर्म को अपना ही समझकर हार्दिक सहयोग दे रहे हैं—जिसके लिये वह पत्रिका गौरवशील है।

* इस पत्रिका में जिनशास्त्रानुसार पूज्य श्री कानजीस्वामी का प्रवचन, तात्त्विकचर्चा, शास्त्र

की अच्छी-अच्छी नयी बातें, तीर्थमहिमा, धर्मप्रभावना के समाचार, वैराग्यप्रेरक विशेष लेख-भजनादि, तथा शंका समाधान एवं बालविभाग दिये जाते हैं। इसका संपादन संपूर्ण मध्यस्थता सहित सम्यक्‌भाव से हो रहा है। उदार एवं गंभीर संपादन शैली से सभी साधर्मीजन प्रसन्न हैं।

✻ इस वर्ष 'भगवान महावीर के ढाई हजारवर्षीय निर्वाणमहोत्सव' के हर्षोपलक्ष में आत्मधर्म में जो विशिष्ट आनंदकारी विविध साहित्य परोसा जा रहा है, वह आपके सामने ही है। **अहा! हम तो हमारा परम सौभाग्य मानते हैं कि भगवान महावीर का अपूर्व उपकार प्रसिद्ध करने के लिये हमारे जीवन में हमें यह अभूतपूर्व सुअवसर प्राप्त हुआ। प्रभु महावीर का स्वानुभूति का मार्ग भव्य जीवों में प्रसिद्ध हो यह हमारी भावना है।**

**'जय महावीर'** —ब्र. हरिलाल जैन

❀✻❁✻

## * धर्म करना सीख लो *

धर्म के खातिर सहज कुर्बान होना सीख लो,
प्राण जायें जायें पर शिवमार्ग पाना सीख लो।।टेक।।
अकलंक औ निकलंक कैसे साहसी ज्ञानी हुए,
वीर वर निकलंक सा, बलिदान होना सीख लो।।१।।
स्याल तन भखते गये पर, ध्यान को छोड़ा नहीं,
धीर वर सुकुमाल मुनि-सा धीर बनना सीख लो।।२।।
लोहमय संतप्त भूषण, दुष्ट पहिनाते गये।
थिर रहे पांडव यथा, थिर चित्त होना सीख लो।।३।।
ज्ञान दर्शन प्राण तेरे, सो न जा सकते कहीं।
हो अभय अनुभव मधुर रस, स्वाद लेना सीख लो।।४।।
इंद्रियों को प्राण माने, ये सदा मिलती रही।
धर्म ही दुर्लभ 'मनोहर' धर्म करना सीख लो।।५।।

# शाश्वतसिद्धिधाम की यात्रा का प्रथम चरण

## [ मुमुक्षु जीवन की सुनहरी क्षण ]

अहा, सिद्धिधाम को भेंटने की भावना आज पूरी हो रही है। अनंत सिद्ध भगवंतों के स्मरणपूर्वक, रत्नत्रय की भावना करते-करते सिद्धिधाम की यात्रा का प्रथम डग भरते ही अनोखा आह्लाद होता है... रोम-रोम में कोई नया ही झनझनाहट होने लगता है... बस, अब मैं संसार का यात्री नहीं, अब तो मैं सिद्धपद का यात्रिक हूँ। जिसप्रकार नूतन समकिती चैतन्य से

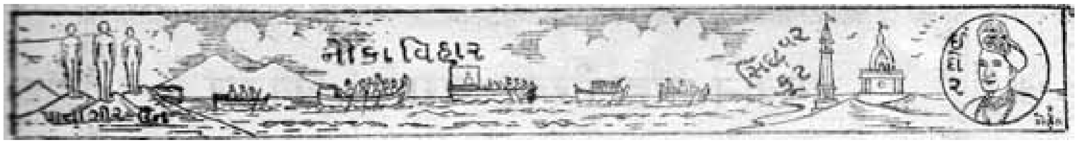


प्रथम भेंट करे और आनंदित होवे, वैसे जीवन में पहली बार तीर्थराज को भेंटकर मुमुक्षु को आनंद होता है... पद-पद पर ऐसी अनुभूति होती है कि मैं अरिहंतों के चरणचिह्न पर चल रहा हूँ। पद-पद पर सिद्धों का तथा साधकों का स्मरण हुआ करता है। रत्नत्रय की भावनायें जगती हैं, तथा पर्वत की गीच वनराजी में अभी कहीं ध्यानस्थ मुनिराज का दर्शन हो जायेगा-तो मैं धन्य बन जाऊँगा! ऐसी उत्सुकता बनी रहती है।

अहा, हृदय में सिद्धभगवान को स्थापित करके सिद्धिधाम की ओर प्रस्थान किया... शाश्वतसिद्धिधाम ऊपर जाने का यह प्रथम चरन मुमुक्षुजीवन की सुनहरी क्षण है।

साधक संतों की साथ में सिद्धिधाम की यात्रा का प्रारंभ करता हुआ मैं साधकभाव का ही प्रारंभ कर रहा हूँ—ऐसा भाव मुमुक्षु के अंतर में जागृत होता है; और आखिर में ऐसी यात्रा को वह साधकभाव का ही कारण बनाता है। अहा! सिद्धालय का मार्ग खुला ही है, संतों हमें उस मार्ग पर ले जा रहे हैं। बहुत समय की हमारी भावना आज पूरी हो रही है।

अभी तो मोक्षधाम में पहला-पहला चरन रखते ही असंख्य प्रकार की आह्लादवृत्ति जागती है और मुमुक्षु का चित्त उछलता हुआ सिद्धालय तक पहुँच जाता है। जैसे मोक्षमार्ग के पथिक को पर्याय में पद-पद पर नवीन आनंद का स्फूरण होता रहता है, वैसे सिद्धिधाम के यात्रिक को पद-पद पर नवीन भक्ति की ऊर्मि जागती हैं। अहा, सुंदर वृक्ष-घटाओं का यह प्रफुल्लित दृश्य हमें वनवासी दिगंबर मुनिवरों की स्मृति कराता है, और संयमभावना से हमारा हृदयबाग खिल जाता है। (‘मंगल तीर्थयात्रा’ : गुजराती पुस्तक में से)

# भगवान महावीर का मंगल अवतार

**[ जिन्होंने स्वयं आनंद को साधा तथा जगत को आनंद का मार्ग दिखाया ]**

महावीर भगवान के मंगल जन्मोत्सव चैत्र सुद १३ के आनंदमय उत्सव में श्री कानजीस्वामी ने प्रसन्नता से कहा—अहो! आज प्रभु के जन्म का मंगल दिवस है। आत्मा अनंत आनंदस्वरूप है-उसके सन्मुख होना, सो मंगल है। आनंदस्वरूप के सम्मुख होते ही परभावों से विमुखता हो जाती है, और आत्मा में से मुक्ति की झँकार उठती है। भगवान महावीर ने ऐसा आनंदस्वरूप प्राप्त किया और जगत के लिये भी ऐसे आनंद का उपदेश दिया।-ऐसे भगवान के जन्म-कल्याणक का आज मंगल दिवस है।

[चैत्र सुद तेरस के प्रवचन में से]

जन्म तो उसी का सफल है जिसने फिर जन्म लेने का बंद कर दिया। भगवान महावीर इस अंतिम अवतार में जन्म लेकर सिद्धपद को प्राप्त हुए। पावापुरी में जिस क्षेत्र से भगवान मोक्ष पधारे, उसी के ऊपर लोकाग्रभाग में प्रभु सादि-अनंतकाल के लिये सिद्धपद में विराजमान हैं। सबसे प्रथम सं. २०१३ में (१८ वर्ष पूर्व) संघसहित वहाँ यात्रा करने गये थे; भगवान के सिद्धक्षेत्र की यात्रा करते-करते प्रभु की स्मृति होती है कि अहो! भगवान अपने आनंदस्वरूप में लीन होकर यहाँ से सादि-अनंत सिद्धपद को प्राप्त हुए हैं। ऐसे भगवान महावीर के जन्म का आज मंगल दिन है।

त्रिशलानंदन वर्द्धमानकुमार ३० वर्ष कुमारअवस्था में रहे, बाद में मुनि होकर साढ़े बारह वर्ष मुनिदशा में विचरे; फिर वैशाख सुद १० को केवलज्ञान प्रगट करके तीर्थंकर सर्वज्ञपद से जगत को आत्मकल्याण का उपदेश दिया। सर्वज्ञ भगवान महावीर ने समवसरण में जो वीतरागी उपदेश दिया उसी का अंश यह समयसारादि है; उसमें से मोक्ष के उपायरूप भेदज्ञान कैसे हो-यह बात चलती है।

प्रथम तो आत्मा का स्वलक्षण चैतन्य है; तथा बंध का लक्षण रागादि है। रागादिभावों की समानता बंध के साथ है; आत्मा के चेतनस्वभाव के साथ रागादि की समानता नहीं है—विषमता है। चेतनलक्षण आत्मा के समस्त गुण-पर्याय में रहा है, इसके बिना आत्मा के कोई गुण-पर्याय नहीं होते; जबकि राग के बिना तो आत्मा अनुभव में आता है। राग के अभाव से आत्मलाभ संभव है, किंतु चेतना के अभाव में आत्मलाभ असंभव है; इसप्रकार राग की और चेतना की अत्यंत भिन्न जानते ही चेतनास्वरूप आत्मा की अनुभूति हो जाती है और बंधभाव उस चैतन्य-अनुभूति से भिन्न रह जाते हैं। अरे जीव! एक बार राग से भिन्न तेरी चेतना से आत्मा को लक्ष में ले—ऐसा करते ही तेरे को पूर्व में कभी न हुई हो ऐसी अपूर्व शांति का वेदन होगा, मोक्ष की झनझनाहट अभी ही होने लगेगी।

अभी भगवान महावीर का शासन चल रहा है; आज उनके जन्मकल्याणक का दिन है। जन्म तो संसार में अनेक जीवों के होते रहते हैं, परंतु महावीर का यह जन्म तो तीर्थंकर होने का अवतार था; इसी अवतार में उन्होंने केवलज्ञान (परमात्मपद) प्रगट करके जगत को मोक्ष का मार्ग दिखलाया है; अतः भगवान का जन्म मंगलरूप है, और कल्याणकरूप से मनाया जाता है।

इस भव के पहले भी भगवान को आत्मज्ञान था, और तीर्थंकरनामकर्म बँधा था; बाद में जब त्रिशलामाता के गर्भगृह में वे स्वर्ग में से अवतरित हुए, तब भी उन्हें आत्मा का ज्ञान एवं अवधिज्ञान था। भगवान का जन्म होते ही इंद्र ने आकर उनके माता-पिता की भी स्तुति की—अहो माता! आप जगत की माता हो; आपके उदर में जगत के नाथ तीर्थंकर का आत्मा विराज रहा है, अतः आप 'रत्नकुक्षी' हो। भगवान का तो बहुमान करता है, और उनकी माता का भी बहुमान करता है। हे माता! वीरप्रभु आपके तो लाड़ले लाल हैं, परंतु हमारे लिये तो परमेश्वर हैं; तेरे लिये भले पुत्र, परंतु जगत के तो वे तारनहारा हैं।—ऐसी स्तुति कर इंद्र-इंद्राणी माताजी को नमस्कार करते हैं।

भगवान तीन ज्ञान तो पूर्वभव से ही लेकर आये हैं। ज्ञानस्वरूपी आत्मा का सामर्थ्य अद्भुत है, उसका भान करके उसका विकास करते-करते इस भव में भव का अंत कर भगवान ने पूर्ण परमात्मपद साध लिया। प्रत्येक आत्मा में अनंत सामर्थ्य है। आत्मा का पूर्ण विकास तो सभी अरिहंत-केवली भगवंतों को होता है, परंतु तीर्थंकर के आत्मा की पवित्रता के

साथ-साथ पुण्य भी विशिष्ट होता है; उनके दिव्यध्वनि के द्वारा जगत के लाखों-करोड़ों जीव धर्म पाते हैं। भरतक्षेत्र में जब २४ तीर्थंकर होते हैं, विदेहक्षेत्र में तो इतने समय में असंख्य तीर्थंकर हो जाते हैं। भरतक्षेत्र में ऐसे तीर्थंकर के अवतार का आज मंगल दिन है। संसार के जीव अपनी चैतन्य-संपदा को पावे और मुक्ति के पथ पर चले, ऐसा उपदेश तीर्थंकर की वाणी में होता है। ऐसे सर्वज्ञ-हितोपदेशी भगवान का जन्मोत्सव इंद्र भी मनावे—इसमें कौन-सा आश्चर्य है!

अहा, अनादिसंसार का जिसने अंत कर दिया और आत्मा को स्वयं परमात्मा बना दिया, सादि-अनंत मुक्तदशारूप अमरपद जिसने प्राप्त किया—ऐसे आत्मा का जन्म सफल है, और उसका ही उत्सव किया जाता है। किंतु जन्म ले करके अपने आत्मा का कुछ भी भला जिसने नहीं किया, उसका उत्सव कैसा? उसका तो जन्म निष्फल है। जन्म ले करके फिर नरकादि में रूले-उनका उत्सव कैसे मनावें? जैनधर्म में जन्मोत्सव तो उन्हीं का मनाते हैं कि जिन्होंने फिर जन्म लेने का बंद ही कर दिया, और मोक्ष के लिये अपने अवतार को सफल बनाया। ऐसे वीरनाथ भगवान का आज जन्मोत्सव है।

अहो, भगवान महावीर ने ज्ञान और राग की अत्यंत भिन्नता दिखलाई है; चैतन्यस्वरूप आत्मा है और रागादि है, सो बंधस्वरूप है-संसार है; इन दोनों को भिन्न जानकर चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव करना, यही मोक्ष का उपाय है। इन दोनों की भिन्नता भगवती ज्ञानचेतना के द्वारा ही अनुभव में आती है। भगवान महावीर ने ऐसे अनुभव के द्वारा मोक्ष को साधा और हम सबको भी उसकी रीति बतलाई है। भगवान के कहे हुए मार्ग को समझकर उस पर जो चलेगा, उसके जन्म-मरण मिट जायेगा, वह मोक्ष में जाकर वीरप्रभु के सिद्धालय में सदैव रहेगा; उसने ही सच्ची तरह से भगवान का उत्सव मनाया।

अहा, भेदज्ञान की रीत दिखाकर संतों ने मोक्ष का मार्ग खोल दिया है। देख लो यह भगवान महावीर का मार्ग! वह मार्ग आज भी जयवंत वर्त रहा है।

**आओ, साधर्मीजनों! आओजी! प्रभु के ढाई हजारवर्षीय निर्वाण-महोत्सव में आनंद से हिलमिलकर हम प्रभु के मार्ग में चलें।**

# ऋषभादि वीरान्तेभ्यः कुर्वंतु जगन्मंगलम्

अद्‌भुत वीतरागी शांतमुद्रा में शोभायमान, इस चौबीसी के प्रथम एवं अंतिम तीर्थंकर भगवान—भगवान आदिनाथ तथा भगवान महावीर, लंदन शहर के म्यूजियम की शोभा कैसे बढ़ा रहे हैं! भारत की यह भव्य वीतरागी संस्कृति जगत में सभी को आकर्षित कर रही है... इसलिये तो अंग्रेज लोग इसको भारत में से विलायत ले गये। हमारे ये प्रभुजी भले विलायत में विराज रहे हैं—तो भी भारत के भक्तों का नमस्कार तो वहाँ भी पहुँच जाते हैं; 'णमो लोय सव्व अरिहंताणं।'

❀ पूज्य श्री कानजीस्वामी जब सागर पधारे तब सेठश्री भगवानदासजी आभार प्रदर्शन कर रहे हैं। सागर शहर में हजारों जिज्ञासुओं ने तत्त्वज्ञान का लाभ लिया। मध्यप्रदेश में तत्त्वज्ञान का अच्छा प्रचार हो रहा है।

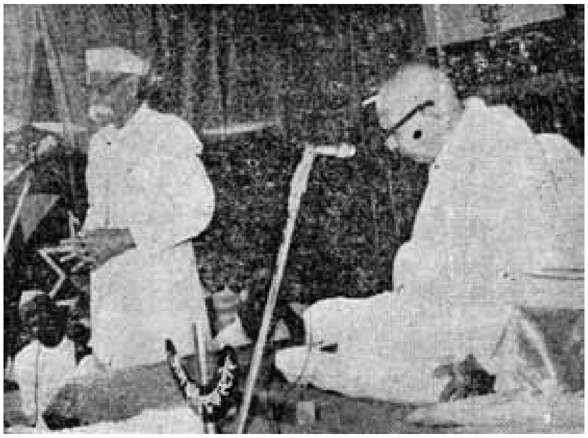

❀ पूज्य स्वामीजी ने बेगमगंज की खुली जेल में उन लोगों को वैराग्यसंबोधन किया था—जिन्होंने डाकूगीरी छोड़ दी है; स्वामीजी ने उन्हें सज्जनतापूर्ण शांतिमय जीवन जीने का अनुरोध किया था।

❀ छिंदवाड़ा में ८०० यात्रिकों के संघसहित धर्मचक्र की पधरामनी होने पर धामधूम से स्वागत किया था, स्वागत समारोह में हजारों लोगों के साथ कलेक्टर ने भी भाग लिया था। अपनी नगरी में महावीर-धर्मचक्र का आगमन देखकर लोग अपने को धन्य मानते थे, और सारे कार्यक्रम में उल्लासपूर्वक भाग लेते थे। और भी अनेक जगह से उत्साहप्रेरक समाचार आये हैं। छिंदवाडा में जैन पाठशाला अच्छी चल रही है।

गुरुदेव कहते हैं—
स्वसन्मुख होकर आत्मा में सम्यक्त्वादिरूप परिणमन करना, यही वीरनाथ का 'धर्मचक्र' है।

# भगवान महावीर का फरमान

[उपकार-अंजलि]

आज सारी दुनिया महावीरप्रभु के नाम से गूंज रही है। भारतभर में छोटे-बड़े सब जैन अपनी-अपनी शक्ति लगाकर कला द्वारा, तन-मन-धन के वैभव से महावीर प्रभु के गुणगान में लग रहे हैं। साहित्य तो इतना छप रहा है कि यह सब पढ़ने की तो बात दूर रही, एक गृहस्थ के घर में वह सर्व समा भी नहीं सकता। चित्र-विचित्र कार्यक्रम-प्रदर्शनी वगैरह भी इतने भरचक रहते हैं कि किसी एक व्यक्ति के लिये उन सबमें भाग लेना संभव नहीं।

लेकिन, इतना सब करते हुए भी ऐसा लगा करता है कि भगवान महावीर की महिमा अभी इतने में पूरी नहीं हो पाती, कुछ बाकी रह जाता है—अतएव अधूरा-अधूरा लग रहा है। इतना करते हुए भी संतोष क्यों नहीं हो पाता?

जरा गहराई से सोचिये तो सही-कि कौन सी चीज़ बाकी रह जाती है?

बस, एक ही! जिस स्वानुभूति के द्वारा भगवान महावीर 'महान वीर' बने, वैसे आत्मअनुभूति करने से ही वीरनाथ के गुणगान पूरे हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। अत: इस आत्मअनुभूति के मार्ग की जितनी अधिक प्रसिद्धि हो—वह इष्ट है; ऐसी आत्मअनुभूति करना, यही महा आनंदमय निर्वाण महोत्सव सच्चा प्रारंभ है, और यही प्रभु महावीर का फरमान है।

प्रभु के इस आदेश को बहुमानपूर्वक शिरोधार्य करके, आत्मधर्म के इस विशेषांक द्वारा संपादक एवं हजारों-लाखों साधर्मी भाई-बहिन, प्रभु महावीर के प्रति अपनी भावभीन उपकार-अंजलि समर्पित करते हैं।

—ब्रह्मचारी हरिलाल जैन

# अपूर्व शांति पाने के लिये आत्मा को पहिचानो

[ लेखांक-४ ]

अहा, ढाई हजार वर्ष पहले भगवान महावीर ने जो वीतरागी इष्ट-उपदेश हमको दिया, उसी का वीतरागी प्रवाह श्रुतधर-संतों ने प्रवाहित रखा, और महान भाग्य से आज भी वह उपदेश पाकर हम अपना आत्महित कर सकते हैं। श्रुत की अपार महिमा आप इस प्रवचन में पढ़ेंगे। देह में आत्मबुद्धि से दुःखी हो रहे जगत के प्रति अत्यंत करुणापूर्वक देह से भिन्न चैतन्यतत्त्व बतलाकर संतों ने महान उपकार किया है।

अरे, खेद है कि अपनी चैतन्य समृद्धि को भूला हुआ यह जगत बाह्य संपत्ति में मूर्छित हो रहा है।—श्री पूज्यपाद स्वामी ने स्वयं बहिरात्मबुद्धि के अनंत दुःख से छूटकर चिदानंद तत्त्व को जाना है, और जगत के जीव भी ऐसे आत्मा को जानकर बहिरात्मबुद्धि के अनंत दुःख से छूटें, ऐसी करुणाबुद्धि से वे कहते हैं कि 'हा हंत जगत!' अरे रे!' देह में आत्मा की भ्रमणा से जगत बेचारा ठगा जा रहा है। खेद है कि चैतन्य की आनंद संपदा को भूलकर जगत के बहिरात्म जीव बाह्य संपत्ति को ही अपनी मानकर स्वयं हने जा रहे हैं; आत्मा की सुध-बुध भूलकर यह जगत अचेतन जैसा हो गया है, जिसे देखकर संतों को करुणा आती है।

अरे जीव! तू समझ ले कि देहादि बाह्य पदार्थ आत्मा के नहीं हैं, आत्मा तो उनसे भिन्न ज्ञान और आनंदस्वरूप है; ऐसे आत्मा को जानने पर-मानने पर-अनुभव करने पर ही दुःख मिटकर शांति-समाधि होती है।

श्री मुनिराज मुमुक्षु जीवों के धर्मपिता हैं, बहिरात्म जीवों को अज्ञान से

भावमरण में मरते देखकर उन्हें करुणा आती है कि अरे रे! जगत चैतन्य को भूलकर मोह से मूर्छित हो गया है। उसे अपने आत्मा की सुध-बुध नहीं रही है। अरे! चैतन्य भगवान को यह क्या हुआ कि जड़-कलेवर में मूर्च्छित हो गया। अरे जीवो! अंतर में दृष्टि लगाकर देखो... तुम तो चिदानंदस्वरूप अमर हो।

जिसप्रकार राजा अपने को भूलकर ऐसा मान ले कि मैं भिखारी हूँ, उसीप्रकार यह चैतन्यराजा अपने स्वरूप को भूलकर, देह ही मैं हूँ—ऐसा मानता हुआ विषयों का भिखारी हो रहा है; उसका नाम भावमरण है। यह देखकर ज्ञानी लोग करुणापूर्वक कहते हैं कि अरे जीवो!

'क्षण-क्षण भयंकर भावमरणे क्यों अहो! राची रहो?'

हे जीवो! इस देहादि में आत्मबुद्धि का त्याग करो और उनसे भिन्न चैतन्यस्वरूप को पहिचानकर उसकी श्रद्धा करो... जिससे इन घोर दु:खों से मुक्ति होकर आत्मा निराकुल सुख को पावे।

आत्मा का स्वरूप पहिचान करके उसकी साधना करने से आत्मा स्वयमेव परमात्मा बन जाता है। साध्य और साधन दोनों अपने में हैं, अपने से बाह्य कोई साध्य या साधन नहीं है; अत: अपनी चैतन्यसंपदा को सम्हालो और बाह्यबुद्धि का त्याग करो-ऐसा संतों का उपदेश है।

[अब ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी श्रुतपंचमी का महान दिन होने से
उसके महिमा संबंधी थोड़ा इतिहास कहते हैं।]

श्रुतपंचमी का इतिहास इसप्रकार है—

वीतराग सर्वज्ञ अंतिम तीर्थंकर देवाधिदेव श्री महावीर परमात्मा ने दिव्यध्वनि के द्वारा जो हितोपदेश दिया था, उसे झेलकर गौतमगणधरदेव ने एक मुहूर्त में बारह अंगों की रचना की। बारह अंगों में तो अपार श्रुतज्ञान का समुद्र भरा हुआ है। महावीर भगवान के मोक्ष पधारने के पश्चात् परंपरा से गौतमस्वामी, सुधर्मस्वामी और जम्बुस्वामी ये तीन केवली तथा आचार्य विष्णु, नंदि,

अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली भगवंत १६२ वर्ष में हुए। इसके बाद बारह अंग का ज्ञान परंपरा क्रमश: क्षीण होता हुआ चला आ रहा था, और उसका कुछ भाग धरसेनाचार्यदेव को गुरुपरंपरा से मिला था। महावीर भगवान के मोक्षगमन के ६८३ वर्षों के बाद धरसेनाचार्यदेव हुए। वे सौराष्ट्र के गिरनार पर्वत की चंद्रगुफा में रहते थे, वे अष्टांग महानिमित्त के जाननेवाले और बहुत श्रुतवत्सल थे। भगवान की परंपरा से चले आ रहे श्रुत के विच्छेद का भय होने पर उन्होंने महिमानगरी में धर्मोत्सव के निमित्त एकत्रित हुए दक्षिण के आचार्यों पर एक पत्र लिखकर भेजा; उस लेख के द्वारा धरसेनाचार्यदेव के अभिप्राय को समझकर आचार्यों ने शास्त्र का अर्थ–ग्रहण–धारण करने में समर्थ, महा विनयवंत, शीलवंत ऐसे दो मुनियों को धरसेनाचार्यदेव के पास भेजा; श्री गुरु के द्वारा भेजे जाने पर जिन्हें अत्यधिक तृप्ति हुई है, जो उत्तम देश, उत्तम कुल और उत्तम जाति में उत्पन्न हुए हैं, समस्त कलाओं में जो निपुण हैं, ऐसे वे दोनों मुनिवरों ने तीन बार आचार्य भगवंतों की आज्ञा लेकर धरसेनाचार्यदेव के पास आने के लिये प्रस्थान किया।

जब वे दोनों मुनि धरसेनाचार्यदेव के पास आ रहे थे तब, यहाँ धरसेनाचार्यदेव को रात्रि के अंतिम प्रहर में ऐसा शुभ स्वप्न आया कि दो महान सुंदर सफेद बैल भक्तिपूर्वक तीन प्रदक्षिणा देकर नम्रता से चरणों में नमन कर रहे हैं।—इसप्रकार का मंगल स्वप्न देखने से संतुष्ट होकर आचार्यदेव ने 'जयवंत हो श्रुतदेवता' ऐसे आशीष वचन का उच्चारण किया।

उसी दिन पूर्वोक्त दोनों मुनिवर आ पहुँचे, और भक्तिपूर्वक आचार्यदेव के चरणों में वंदन किया। महा धीर, गंभीर और विनय की मूर्ति ऐसे दोनों मुनियों ने तीसरे दिन धरसेनाचार्यदेव के पास विनयपूर्वक निवेदन किया कि प्रभो! इस कार्य के लिये हम दोनों आपके चरणकमल में आये हैं। जब मुनियों ने ऐसा निवेदन किया, तब आचार्यदेव ने 'बहुत अच्छा, कल्याण हो' ऐसा आशीष वचन कहा।

इसके बाद यद्यपि शुभ स्वप्न द्वारा उन दोनों मुनियों की विशेषता जान ली

थी, तथापि परीक्षा करने के लिये, धरसेनाचार्यदेव ने उन दोनों साधुओं को दो मंत्र विद्या देकर कहा कि—दो दिन के उपवासपूर्वक इस विद्या को सिद्ध करो। आचार्यदेव ने परीक्षा करने के लिये एक को विद्या के मंत्र में अधिक अक्षर दिया था और दूसरे को कम अक्षर दिया था। दोनों मुनिवरों को विद्या की सिद्धि होने पर दो देवियाँ दिखाई दीं, परंतु उनमें से एक के तो दाँत बाहर निकले हुए थे और दूसरी काँनी (हीन चक्षुवाली) थी। उन्हें देखकर मुनिवरों ने विचार किया कि 'देवता लोग कभी विकृतांग नहीं होते।' इसलिये अवश्य विद्या के मंत्र में कुछ गलती है। महासमर्थ ऐसे उन मुनिवरों ने मंत्राक्षरों को ठीक किया, जिसमें अधिक अक्षर थे, उन्हें निकाल दिया, और जिसमें कम अक्षर थे, उन्हें बराबर कर लिया। फिर मंत्र को पढ़ने पर दोनों देवियाँ ठीक रूप से दिखलायी दीं। भगवान धरसेनाचार्यदेव के पास जाकर उन्होंने विनयपूर्वक समस्त वृतांत कहा, जिसे सुनकर आचार्यदेव संतुष्ट हुए और फिर उन्होंने भगवान की परंपरा से चले आ रहे अगाध श्रुतज्ञान का पढ़ाना प्रारंभ किया और आषाढ़ शुक्ला एकादशी के प्रात:काल सिद्धांत ग्रंथ का पठन समाप्त होने पर 'भूत' जाति के व्यंतरदेवों ने वाजिंत्रनादपूर्वक दोनों की पूजा की। भूत जाति के देवों ने पूजा की इसलिये धरसेनाचार्यदेव ने एक का नाम 'भूतबलि' रखा, और दूसरे मुनि के दाँत देवों ने ठीक कर दिये इसलिये उनका नाम 'पुष्पदंत' रखा। और इसप्रकार धरसेनाचार्यदेव ने श्रुतज्ञान देकर शीघ्र ही पुष्पदंत और भूतबलि मुनिवरों को वहाँ से विदाई दी।

इसके बाद दोनों मुनिवरों ने श्रुतज्ञान को 'षट्खंडागम' के रूप में गूँथा... और गुजरात के अंकलेश्वर में (लगभग दो हजार वर्ष पहले) ज्येष्ठ शुकला पंचमी के दिन चतुर्विध संघ ने मिलकर उस श्रुतज्ञान के महिमा का बड़ा भारी उत्सव किया; इसप्रकार वीतरागी संतों ने श्रुतज्ञान का प्रवाह चालू रखा। वह दिन आज भी श्रुतपंचमी के रूप में हम मनाते हैं।

महावीर भगवान ने जो कहा और वर्तमान में महाविदेह में श्री सीमंधर

भगवान जो कह रहे हैं, उसका अंश इन शास्त्रों में है। राग-द्वेष-मोहरहित वीतरागी पुरुषों की रची हुई यह वाणी है। सर्वज्ञ भगवान की सीधी परंपरा से आया हुआ ऐसा श्रुतज्ञान अच्छिन्न रह गया, अतः हर्षित होकर चतुर्विधसंघ ने बहुत बड़े महोत्सव पूर्वक श्रुतज्ञान का बहुमान किया, तब से भारत में वह दिन 'श्रुतपंचमी' के रूप प्रसिद्ध है और उसका महोत्सव प्रतिवर्ष मनाया जाता है। आजकल तो इसका विशेष प्रचार होता जा रहा है; कई स्थानों पर तो इस महोत्सव को आठ दिन तक मनाते हैं और श्रुतज्ञान की बहुत प्रभावना करते हैं। श्रुतपंचमी का दिन बहुत महान है। अहा, सर्वज्ञ भगवान की वाणी का प्रवाह दिगम्बर संतों ने जीवंत रखा है। बहुत उपकार है, उनका।

पुष्पदंत और भूतबलि आचार्य भगवंतों ने जो षट्खंडाग की रचना की उस पर वीरसेनदेव ने 'धवला' नाम की महान टीका की रचना की है। ये वीरसेनस्वामी भी ऐसे समर्थ थे कि सर्वार्थगामिनी (-सकल अर्थ में पारंगत) ऐसी उनकी नैसर्गिक प्रज्ञा को देखकर बुद्धिमान लोगों को सर्वज्ञ की सत्ता में संदेह नहीं रहता, अर्थात् उनकी अगाध ज्ञानशक्ति को देखते ही बुद्धिमानों को सर्वज्ञ की प्रतीति हो जाती थी। ऐसी अगाध ज्ञानशक्तिवाले आचार्यदेव ने षट्खंडागम की टीका रची है। यह परमागम सिद्धांतशास्त्र बहुत वर्षों से ताड़पत्र पर लिखे हुए सुरक्षित हैं जो कि मूलबद्री के शास्त्र भंडारों में विद्यमान हैं। कुछ वर्षों के पहले उनके दर्शन भी दुर्लभ थे... परंतु पात्र जीवों के महान भाग्य से आज वे छप करके प्रसिद्ध हो चुके हैं, और उनका महान प्रचार हो रहा है। (श्री कानजीस्वामी के साथ दक्षिण देश की यात्रा के अवसर पर मूलबद्री में हमें जैसे हजारों यात्रिकों ने रत्नप्रतिमाओं का तथा ताड़पत्र पर अंकित धवल सिद्धांत का बहुत भक्ति के साथ दर्शन किया था।) और अब तो ये मूल सिद्धांतशास्त्र हिंदी अनुवाद सहित छपकर प्रसिद्धि में आये हैं, और अनेक मुमुक्षुजीव परम आदर के साथ उनका अभ्यास करते हैं।

आचार्यभगवंतों ने सर्वज्ञ भगवान की साक्षात् वाणी का प्रसाद इन शास्त्रों

में भरा है। और इसके उपरांत और भी अनेक महान समर्थ आकाश के स्तंभ जैसे श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव आदि मुनिवर जैनशासन में हुए हैं, जिन्होंने समयसारादि अलौकिक महान शास्त्रों की रचना की है... उनका एक-एक अक्षर आत्मा के अनुभवरस की स्याही से लिखा गया है। ये संतों की वाणी का गंभीर रहस्य गुरुगम द्वारा समझने पर अपूर्व आत्मतत्त्व का अपार वैभव दिखाई देता है। जो ज्ञान महावीर भगवान की परंपरा से प्राप्त हुआ, और स्वयं विदेहक्षेत्र में जाकर सीमंधर भगवान के उपदेश का साक्षात् श्रवण किया, इन दोनों के आत्मा के अनुभव के साथ मिलान कर आचार्यभगवान ने श्री समयसार में भर दिया है और इसप्रकार आत्मा के समस्त वैभव से एकत्वविभक्त आत्मस्वरूप दिखलाया है।

इस समाधिशतक का बीज भी समयसार ही है। पूज्यपादस्वामी भी महान समर्थ संत थे, उन्होंने इस समाधिशतक में संक्षेप में अध्यात्मभावना भर दी है। वह आप इस लेखमाला में पढ़ रहे हैं।

# त्रिशलामाता तथा वर्द्धमानकुंवर की मधुर बातें—

छोटे से बाल तीर्थंकर वर्द्धमानकुंवर अंतर में तो अपने चैतन्य की स्वानुभूति के आनंद झूलने में झूलते थे... और बाहर में माता त्रिशला उनको दिव्य झूले में झूला रही थीं; वीरकुंवर को देखते-देखते उनका हृदय तृप्त होता था। वे माता-पुत्र आनंद से कैसी-कैसी मजेदार बातें करते थे? उनकी चैत्र सुद तेरस की सुमधुर बातचीत हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। माता-पुत्र की यह मधुरी बातें पढ़कर आपको भी बहुत प्रसन्नता होगी। (संपादक)

[माताजी बैठी हैं; अचानक पालने में से मंगलवाजिंत्र जैसी मधुर आवाज सुनाई पड़ती है—]

❀ माँ... ओ... माँ... !

❀ माता आश्चर्य से उत्तर देती है : हाँ, बेटा वर्द्धमान! बोलिये!

❀ माँ; शुद्धात्मतत्त्व की महिमा कैसी अगाध है ?-क्या यह तुझे मालूम है ?

❀ हाँ बेटा! जब से मेरे अंतर में तेरा आगमन हुआ, तभी से शुद्धात्मतत्त्व की अगाध महिमा मैंने जान ली।

❀ आत्मा की कैसी महिमा तुमने जानी ?-माँ, वह मुझसे कहो!

❀ बेटा! जब से यहाँ पर आकाश में से रत्नवृष्टि होने लगी, जब मैंने दिव्य १६ स्वप्न देखे और उन स्वप्नों के अद्भुत फल जाने, तभी से मुझे ऐसा लगा कि-अहा, जिसके पुण्य का ऐसा आश्चर्यकारी प्रभाव! उस आत्मा की पवित्रता का तो क्या कहना? ऐसा आराधक आत्मा मेरे उदर में आकर विराज रहा है।—इसप्रकार के अद्भुत महिमा से आत्मा के आराधकभाव का विचार करते-करते मुझे अचिंत्य आनंदसहित शुद्धात्मतत्त्व का प्रतिभास हुआ। बेटा महावीर! यह सब तेरा ही प्रभाव है।

❀ अहो माता! तीर्थंकर की माता होने का महाभाग्य तेरे को मिला; तू जगत की माता कहलायी। चैतन्य की अद्भुत महिमा की जाननहारी ओ माता! तू भी अवश्य मोक्षगामी हो।

❀ बेटा वर्द्धमान! तेरी बात सत्य है। स्वर्ग से तेरा आगमन हुआ, तभी से हमारे अंतर एवं बाह्य वैभव वृद्धिंगत होने लगे हैं; मेरे अंतर में आनंद की अपूर्व स्फूरणा होने लगी है... मुझे तेरे आत्मा का स्पर्श हुआ तभी से आराधकभाव शुरु हो चुका है, और एक भव के बाद मैं भी तेरी तरह मोक्ष को साधूँगी।

❀ अहो धन्य माता! मेरी माता तो ऐसी ही शोभे ना! माता! तेरी मीठी बात सुनकर मुझे आनंद हो रहा है। मैं इसी भव में मोक्ष को साधनेवाला हूँ, तब फिर मेरी माता भी मोक्ष के साधनेवाली ही क्यों न हो!

❀ बेटा, तू तो सारे जगत को मोक्षमार्ग दिखलानेवाला है; तेरे प्रताप से तो जगत के भव्यजीव आत्मा को जानेंगे और मोक्षमार्ग को पायेंगे—तब फिर मैं तो तेरी माँ, मैं क्यों मोक्षमार्ग को न पाऊँ? मैं भी अवश्य मोक्षमार्ग में चलूँगी। पुत्र! तू भले ही सारे जगत का नाथ हो किंतु मेरा तो पुत्र है।....तेरे को आशीर्वाद देने का मेरा अधिकार है।

❀ महावीर ने कहा—वाह मेरी माता! तेरा स्नेह अपार है; माता के रूप में तू पूज्य हो... तेरा वात्सल्य विश्व में अजोड़ है।—

[अब आगे वीरकुंवर तथा त्रिशलामाता जो आनंदचर्चा करते हैं, वह पद्यरूप से मधुर संगीतमय स्वर से करते हैं। यह पद गुजराती में था, उसमें जहाँ शक्यता थी, वहाँ पर तो हिंदी रूपांतर कर दिया है, फिर भी अनेक जगह गुजराती भाषा ही रखनी पड़ी है। मिश्र भाषा का यह काव्य समझने में थोड़े पाठकों को जरा कठिनता पड़ेगी—फिर भी माँ-पुत्र की यह सर्वोत्तम चर्चा उन्हें भी अवश्य आनंदित करेगी। —संपादक]

माता, मेरी मोक्षसाधिका धन्य धन्य है तुझको...
तुम हैया की मीठी आशीष बहाती लागे मुझको...
माता! दरशन तेरा रे... जगत को आनंद करनारा...

बेटा, तेरी अद्‌भुत महिमा सम्यक् हीरले शोभे...
तेरा दर्शन करके भव्यो, मोह के बन्धन तोड़े...
बेटा! जन्म तुमारो रे जगत को आनंद देनारा...

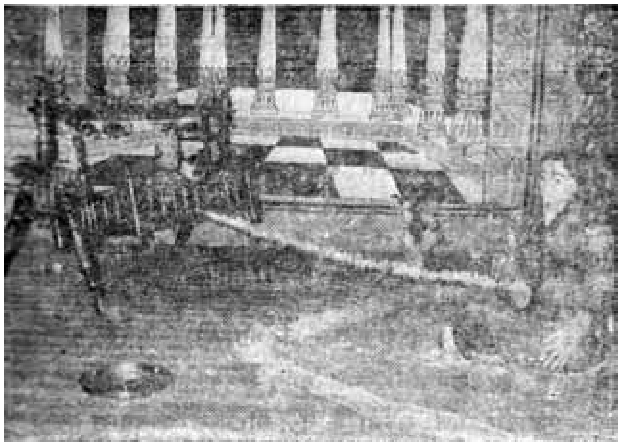

माता! तेरी वाणी मीठी, मानुं फूलडां खरते...
तेरे ह्रदे हेत–फूवारा झरमर–झरमर झरते...
माता! दरशन तेरा रे... जगत को आनंद करनारा...

(वाह बेटा! तेरी वाणी तो अद्‌भुत है; और वह भव्य जीवों को मोक्ष का मार्ग दिखानेवाली है।)

तेरी वाणी सुनकर भव्यो, मुक्तिपंथे दोड़े...
चेतनरस का स्वाद चखे तब राजपाट सब छोड़े....
बेटा! जन्म तिहारा रे, जगत को मंगलकारी रे....

आगे भावना माता मुझको, क्यारे बनूँ वीरागी...
बन्धन तोडी रागतणां सो बनूं परिग्रह त्यागी...
माता! दरशन तेरा रे जगत को आनंद करनारा...

बेटा, तू तो दोय साल का पण गंभीरता भारी,
गृहवासी है फिर भी उदासी, दशा मोह से न्यारी...
बेटा! जन्म तुमारो रे जगत को आनंद देनारा...

माता! तु तो छेल्ली माता, मात दूजी नहि होगी.
रत्नत्रय से केवल लेंगे, जन्म–मरण जाय भागी...
माता! दरशन तेरा रे जगत को आनंद करनारा...

बेटा, तु तो जग में उत्तम आत्म–जीवन जीवनारो,
दिव्यध्वनि का संदेश देकर मुक्तिमार्ग खोलनारो...
बेटा... धर्म तुमारो रे जगत को मंगल करनारो...

माता ! मुक्ति मारग खुल्ला भव्यो चाल्या आवे,
भरतक्षेत्र में जयवंत शासन आनंदमंगल आये...
माता ! दरशन तेरा रे जगत को आनंद करनारा...

बेटा, तू है वर्द्धमान सच्चा, धर्मवृद्धि करनारा,
महावीर पण सच्चा है तू, मोहमल्ल जीतनारा...
बेटा, धर्म तुम्हारा रे जगत का मंगल करनारा...

माता, करूँ वीतरागी–वृद्धि निज परमपद को पावुं,
जीव सभी जिनधर्म को पावे, ऐसी भावना भावुं...
माता ! दरशन तेरा रे जगत को आनंद देनारा...

बेटा, जग में धर्म की वृद्धि होगी तेरे प्रतापे,
जो चाले तुम पगले–पगले मोक्षपुरी में जावे...
बेटा, धर्म तुमारा रे जगत को आनंद देनारा...

माता ! अनुभूति चेतन की अतिशय मुझको प्यारी,
अनुभूति में आनंद उल्लसे उसकी बात ही न्यारी...
माता... दरशन तेरा रे जगत को आनंद देनारा...

बेटा, तू तो स्वानुभूति की मस्ती में नित म्हाले,
हींचोलुं हीरलाकी दोरे, अंतर वहाले–वहाले...
बेटा, जन्म तुमारो रे जगत के आनंद देनारा...

[अहो, त्रिशलामाता तथा बालतीर्थंकर वर्द्धमानकुमार की यह चर्चा अद्‌भुत आनंदकारी है। वीरनाथ भगवान का ढाई हजारवर्षीय निर्वाणमहोत्सव जगत के लिये मंगलरूप हो। वीरशासन में घर–घर ऐसे उत्तम संस्कारवाले माता–पुत्र होते रहो और आत्मकल्याण से जिनशासन को बढ़ाते रहो। —जय महावीर]

# स्वानुभव की चर्चा

साधर्मी को स्वानुभव की चर्चा में बहुत प्रेम होता है। सम्यग्दर्शन के बिना स्वानुभव नहीं होता। स्वानुभवपूर्वक ही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है। स्वानुभव एक दशा (पर्याय) है, वह दशा जीव को अनादि से नहीं होती परंतु नई प्रगट होती है। इस स्वानुभवदशा की बहुत महिमा शास्त्रों में दिखायी है। स्वानुभव में मोक्षमार्ग है; स्वानुभव में जो आनंद है, वह आनंद जगत में अन्यत्र कहीं पर भी नहीं है। ऐसी स्वानुभवदशा का स्वरूप यहाँ कहेंगे।

इस जगत में अनंत जीव हैं; प्रत्येक जीव चैतन्यमय है, परिपूर्ण ज्ञान व सुख हरेक जीव के स्वभाव में भरे हैं। परंतु ऐसे अपने स्वरूप को जीव स्वयं नहीं देखता—अनुभव नहीं करता—इससे अनादि से वह मिथ्यादृष्टि है।

अनादि से अपने सच्चे स्वरूप को भूलकर परभावों में ही तन्मय हो रहा है, स्व-पर की जैसी भिन्नता है, वैसी यथार्थ नहीं जानता और विपरीत मानता है; इस कारण पर से मेरे में कुछ हो और मैं पर में कुछ कर दूँ, ऐसी स्व-पर की एकत्वबुद्धि उसके अंतर में रहा करती है; इस विपरीत श्रद्धान का नाम मिथ्यात्व है।

यह विपरीत मान्यता जीव स्वयं ही अपने स्वरूप को भूलके कर रहा है; एक-एक समय करके अनादिकाल से स्वयं अपने अज्ञान के कारण से मिथ्याभावरूप परिणाम करता आया है, किसी दूसरे ने उसको मिथ्यात्व नहीं कराया।

मिथ्यात्वकर्म ने जीव में मिथ्यात्व कराया, ऐसा जो मानता है, उसको स्व-पर की एकत्वबुद्धि है। पूजा की जयमाला में भी आता है कि 'कर्म विचारै कौन, भूल मेरी अधिकाई' प्रभो! मेरी भूल की अधिकता से ही मैं दुःख भोग रहा हूँ। निगोद का जो जीव अनादि से निगोद

में रहा है, वह भी उनके भावकलंक की प्रचुरता के कारण ही निगोद में रहा है: 'भावकलंक सुपउरा णिगोयवासं क मुंचइ' (गोम्मटसार जीवकांड)

भाई! अपनी गलती तू जड़ के ऊपर डालेगा, तब उस गलती से छुटकारा तू कब पावेगा? जीव और जड़ दोनों द्रव्य ही जब अत्यंत भिन्न हैं, दोनों की जाति ही भिन्न है, दोनों परिणमन भिन्न है, तब वे एक-दूसरे में क्या करें?—परंतु ऐसी वस्तुस्थिति को नहीं जाननेवाले जीव को स्व-पर की एकत्वबुद्धि का अथवा कर्ता-कर्म की बुद्धि का भ्रम अनादि से हो रहा है, वही मिथ्यात्व है और वही संसार दु:ख का मूल है। यहाँ तो अब वह भ्रमरूप मिथ्यात्व कैसे मिटे-इसकी बात है।

कोई मुमुक्षु जीव जब अंतर के पुरुषार्थ से स्व-पर के यथार्थ श्रद्धानरूप तत्त्वार्थ-श्रद्धान करता है, तब वह जीव सम्यक्त्वी होता है। स्व क्या, पर क्या, स्व में आत्मा का चेतनमय शुद्धस्वभाव क्या व रागादि परभाव क्या—इन सबको भेदज्ञान से अच्छी तरह पहिचान के प्रतीति करने से सम्यक्त्व होता है।

'स्व-पर के ऐसे यथार्थ श्रद्धान में शुद्धात्मश्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व गर्भित है। देखो, यह महत्त्व की बात है। स्व-पर की श्रद्धा में या देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा के समय में निश्चय सम्यक्त्व तो साथ ही साथ रहता है।

कोई कहे कि निश्चयसम्यक्त्व चौथे गुणस्थान में नहीं होता। तो कहते हैं कि भैया !यदि निश्चयसम्यक्त्व साथ ही साथ न हो, तब तो तेरे माने हुए अकेले व्यवहार को शास्त्रकार सम्यक्त्व ही नहीं कहते।

जिसको शुद्धात्मश्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व नहीं है, वह जीव सम्यक्त्वी ही नहीं है, वह तो मिथ्यात्वी ही है। जब शुद्धात्मा के श्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व हो, तब ही जीव को चौथा गुणस्थान प्रगटे, और तब ही उसको समकिती कहने में आवे।

इसलिये यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव को स्व-पर के यथार्थ श्रद्धान में शुद्धात्म-श्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व गर्भित है। 'गर्भित है' अर्थात् इसके साथ ही विद्यमान है। और ऐसे जीव को निमित्तरूप से दर्शनमोह का उपशम क्षयोपशम वा क्षय स्वयमेव अवश्य होता है; अतएव निमित्त की अपेक्षा के कथन में ऐसा भी कहा जाता है कि दर्शनमोह के उपशमादि से

सम्यक्त्व हुआ। परंतु वास्तव में तो स्व-पर के यथार्थ श्रद्धान का प्रयत्न जीव ने किया, तब सम्यक्त्व हुआ; जीव यथार्थ श्रद्धान का उद्यम न करे और कर्म में उपशमादि हो जाए, ऐसा कभी नहीं बनता।

इसके उपरांत यहाँ तो यह दिखलाना है कि स्व-पर के श्रद्धान में-शुद्धात्मा का श्रद्धान भी आ ही जाता है। शुद्धात्मा का श्रद्धान, सो निश्चयसम्यक्त्व है, इसकी विद्यमानता में ही स्व-पर के श्रद्धान को या देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा को सच्ची श्रद्धा कहने में आती है। निश्चय से रहित अकेले शुभरागरूप व्यवहार के द्वारा जीव सम्यक्त्वी नहीं कहलाता। जिसको निश्चय सम्यक्त्व हो, उसको ही सम्यक्त्वी कहते हैं।

भाई! यह तो सर्वज्ञ का निर्ग्रंथ मार्ग है। यदि तूने स्वानुभव के द्वारा मिथ्यात्व की ग्रंथि नहीं तोड़ी तो निर्ग्रंथ मार्ग में कैसे आया? जन्म-मरण की गाँठ को यदि न तोड़ दी तो निर्ग्रंथ के मार्ग में जन्म ले करके तूने क्या किया? भाई! ऐसा सुअवसर तुझे मिला तो अब ऐसा उद्यम कर कि जिससे यह जन्म-मरण की गाँठ टूटे और अल्पकाल में मुक्ति हो जाये।

“जिनको स्व-पर का यथार्थ श्रद्धान नहीं है, किंतु जैनमत में कहे, देव-गुरु एवं धर्म इन तीनों को मानते हैं, तथा अन्यमत में कहे हुए देवादि को व तत्त्वादि को नहीं मानते, तो ऐसे केवल व्यवहार सम्यक्त्व के द्वारा भी वे सम्यक्त्वी नाम को नहीं पाते। इसलिये स्व-पर के भेदविज्ञानपूर्वक शुद्धात्म अनुभूतिसहित जो तत्त्वार्थश्रद्धान हो, उसको ही सम्यक्त्व जानना।”

वाह देखो, निश्चयव्यवहार की कितनी स्पष्ट बात है! यथार्थ श्रद्धान से जब निश्चयसम्यक्त्व हो, तभी जीव सम्यक्त्वी होता है। निश्चयसम्यक्त्व ही मोक्षमार्गरूप है।

सिद्धांत में 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' ऐसा कहा है, उसमें निश्चयसम्यग्दर्शन की बात है। 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'—यह निश्चयसम्यग्दर्शन है। भूतार्थ के आश्रित सम्यग्दर्शन कहा (भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो-समयसार गाथा ११) उसमें और इस सम्यग्दर्शन में कोई फर्क नहीं।

ऐसा सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान से प्रगट हो करके सततरूप से सिद्धदशा में भी रहता है। शुभराग तो सिद्धदशा में नहीं रहता। इसप्रकार निश्चय सम्यग्दर्शन ही मोक्षमार्गरूप है।

चतुर्थ गुणस्थान से ही सभी जीवों को स्वानुभूतिसहित निश्चयसम्यक्त्व होता है। ऐसे निश्चयसम्यक्त्व के बिना धर्म का या मोक्षमार्ग का प्रारंभ भी नहीं हो सकता।

आत्मवस्तु का जैसा स्वभाव है, उसीप्रकार श्रद्धा में लेना सो 'सम्यक्त्व' है, और वह वस्तु का निजभाव होने से 'निश्चय' है। ऐसे निश्चयसम्यक्त्व की भूमिका में धर्मी को वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र की पहचान, भक्ति, उनके प्रति उत्साह, प्रमोद, बहुमान व विनय आता है।

परंतु कोई जीव अकेले व्यवहार में ही संतुष्ट हो जाये और निश्चयसम्यक्त्व को भूल जोय तो उसको सम्यग्दृष्टि नहीं कहा जाता। यदि व्यवहार के साथ ही साथ 'निश्चयसम्यक्त्व' (शुद्धात्मा की स्वानुभवसहित निर्विकल्प प्रतीति) हो-(दोनों साथ हों) तभी उसका सच्चा व्यवहार है, अन्यथा तो व्यवहाराभास है।

जिसके निश्चय श्रद्धा तो है नहीं, और अकेले व्यवहार के शुभराग में संतुष्ट हो रहा है, वह तो उस राग को ही मोक्षमार्ग मान करके उसमें रुक जायेगा, क्योंकि आगे की वस्तु का तो उसे लक्ष ही नहीं है; अतएव उसकी श्रद्धा मिथ्या ही रहती है।

अत: इस तरह यह बतलाया कि व्यवहार के आश्रय से मोक्षमार्ग नहीं है, निश्चय सम्यक्त्वादि के आश्रय से ही मोक्षमार्ग है। अथवा, जो निश्चयसम्यक्त्वादि है, वही मोक्षमार्ग है; व्यवहार सम्यक्त्वादि में जो शुभराग है, वह मोक्षमार्ग नहीं है।

अरे भाई! मोक्षमार्ग तो वस्तु के स्वभाव की जाति का होता है कि इसके विरुद्ध होता है? निश्चयसम्यक्त्व का जो 'भाव' है, वह तो वस्तुस्वभाव की ही जाति का है, और सिद्धदशा में भी वह 'भाव' बना रहता है। जो राग भाव है, वह वस्तुस्वभाव की जाति का नहीं है, परंतु विरुद्ध भाव है, सिद्धदशा में वह भाव नहीं रहता।

कैसी स्पष्ट व सीधी बात है। जिज्ञासु हो करके समझना चाहे, उसे तो तुरंत समझ में आ जाये ऐसी बात है। परंतु जिसको समझना न हो, वाद-विवाद ही करना हो, वह तो ऐसी स्पष्ट बात में भी कुछ-न-कुछ कुतर्क करेगा। क्या करें? कोई किसी को बलजोरी से तो समझा नहीं सकता।

'तत्त्वार्थश्रद्धान' को सम्यक्त्व कहा है; वहाँ 'तत्त्व' अर्थात् जिस वस्तु का जैसे 'भाव'

हो वैसा जानना चाहिये, तब ही उस वस्तु को सच्ची रीति से (सम्यक् प्रकार से) मानी गई–ऐसा कहलायेगा।

जीव में ज्ञानादि अनंत स्वभाव हैं, वे जीव के 'भाव' हैं; इस अनंतशक्तिरूप निजभाव को भूल के, जिसने मात्र क्षणिक विकारभाव जितना ही जीव का मूल्यांकन किया, उसने सचमुच में जीव के 'भाव' को नहीं जाना।

राग से लाभ माननेवाला वास्तव में तो उस राग जितना ही जीव का मूल्यांकन कर रहा है। 'इस राग के द्वारा मुझे चैतन्यस्वभाव मिल जायेगा' इसका यही अर्थ हुआ कि जीव के स्वभाव का मूल्य मात्र उस राग–जितना ही उसने माना। वह अपने शुद्धस्वभाव को, अपने सम्यक्भाव को, अपने स्वभाव की सच्ची महिमा को नहीं जानता, इससे बाह्य पदार्थों की व विकारी भावों की महिमा करता है और अपने को महिमा रहित विकारी समझ रहा है, इसलिये उसकी श्रद्धा 'सम्यक्' नहीं किंतु मिथ्या है;—भले ही वह शुद्ध जैन के देव–गुरु–शास्त्र को शुभराग से मानता हो और कुदेवादि को न मानता हो–तो भी इतने मात्र से उसका मिथ्यात्व नहीं छूट जाता।

भाई, तेरी महिमा अचिंत्य है, जगत में सबसे श्रेष्ठ चैतन्यरत्न तू ही है; तेरी वस्तु में प्रवेश करके तेरे सच्चे भाव को सच्चे स्वरूप को तू जान, तभी तुझे सम्यक्त्व होगा व तभी तेरा मिथ्यात्व छूटेगा।

स्व–पर का भेदज्ञान सच्चा तब ही कहलाता है, जबकि साथ में शुद्धात्मा का श्रद्धान हो। देव–गुरु की पहचान सच्ची तब ही कहलाती है, जबकि साथ में शुद्धात्मा का श्रद्धान हो। नवतत्त्व की श्रद्धा सच्ची तब ही कहलाती है, जबकि भूतार्थस्वभाव के सन्मुख होकर शुद्धात्मा का श्रद्धान करे।

एकांत व्यवहार से कोई यह सब किया करे और यदि शुद्धात्मा के श्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व न करे तो उस जीव को सम्यग्दृष्टि नहीं कहते। इसलिये शुद्धात्मा के अनुभवसहित श्रद्धानरूप जो निश्चयसम्यक्त्व है, वही सच्चा सम्यक्त्व है, और वही मोक्षमार्ग है—ऐसा जानना।

अंतर में अपने शुद्धस्वभाव का अवलंबन करके जो प्रतीति हुई, वह सम्यक् प्रतीति का भाव स्वभाव में से आया है, वह प्रतीति स्वभाव की जाति की है।

सिद्ध भगवान की प्रतीति, व छोटे से छोटे (अर्थात् चतुर्थ गुणस्थानवाले) सम्यग्दृष्टि की प्रतीति,—इन दोनों की प्रतीति में कोई फर्क (तफावत) गिनने में नहीं आया; जैसा शुद्धात्मा सिद्धप्रभु की प्रतीति में है, अन्य सम्यग्दृष्टि की प्रतीति में भी वैसा ही शुद्धात्मा है।

बाहर के आश्रय से होनेवाले व्यवहारश्रद्धा का भाव तो सभी जीवों को एकसा नहीं होता। फिर भी ऐसा नहीं समझना कि वह भाव चाहे-जैसा (विपरीत भी) हो। नव तत्त्वों को जो विपरीत मानता हो, देव-गुरु-शास्त्र को अन्यथा मानता हो, सर्वज्ञता आदि को न मानता हो, ऐसे जीव को तो व्यवहारश्रद्धा में भी विपरीतता है। जिसके नव तत्त्व का, देव-गुरु-शास्त्र की व स्व-पर की भिन्नता की पहचान नहीं, उसके तो शुद्धात्मा का श्रद्धान बहुत दूर है।

यहाँ तो इन सबके उपरांत आगे की बात दिखानी है कि यह सब करने पर भी यदि शुद्धात्मा का निर्विकल्प प्रतीति करे, तब ही सम्यग्दृष्टि होता है, इसके बिना सम्यग्दृष्टि कोई नहीं हो सकता।

'शुद्धात्मा के श्रद्धानरूप ऐसा निश्चय सम्यग्दर्शन तो सातवें गुणस्थान में होता है, छठ्ठे-पाँचवें या चौथे में निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं होता'—यदि ऐसा कोई कहे, तो इसका अर्थ यह हुआ कि वहाँ पर मोक्षमार्ग ही नहीं होता। अरे, भाई! यह तो मार्ग की बड़ी विपरीतता है।

चौथे-पाँचवें-छठ्ठे गुणस्थान में निश्चय रहित अकेले व्यवहार को ही यदि तू मोक्षमार्ग मान लेता है तो ऐसी मान्यता को तो आचार्य भगवान ने 'व्यवहारमूढ़त्व' कहा है। निश्चय से रहित केवल व्यवहार को मोक्षमार्ग नहीं गिना जाता।

मोक्षमार्ग का जो सम्यग्दर्शन कहा है, वह शुद्धात्मा के श्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व है और ऐसा निश्चयसम्यक्त्व चौथे गुणस्थान में भी नियम से होता है। और इसलिये वहाँ भी एकदेश-मोक्षमार्ग गिनने में आया है।

ऐसे सम्यक्त्व का सच्चा स्वरूप जो पहचाने भी नहीं और उसमें गड़बड़ी करे, उसने तो मोक्षमार्ग का वास्तविक स्वरूप जाना ही नहीं। मोक्षमार्ग का सच्चा स्वरूप जो समझे भी नहीं

वह उसको साधेगा कैसे ? अत: हे मोक्ष के चाहनेवाले साधर्मीजन ! आप स्वानुभूति की परम महिमा समझ लो और उसके प्रयत्न द्वारा निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लो।

प्रभु महावीर के ढाई हजार वर्षीय निर्वाण–महोत्सव में सबसे महत्व का कार्य यही है।

लाख बात की बात यही निश्चय उर लाओ;
तौरि सकल जग दंद–फंद निज आतम ध्यावो॥
(पंडित दौलतरामजी)

## धर्म के आराधक सम्यग्दृष्टि की प्रशंसा

जगत में सर्वज्ञ का अनुसरण करनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव तो बहुत थोड़े हैं, और उनमें विरुद्ध मिथ्यादृष्टि जीव बहुत हैं, ऐसा किसी को लगे तो कहते हैं कि—हे भाई ! आनंददायक ऐसे अमृतपथरूप मोक्षमार्ग में स्थित सम्यग्दृष्टि कदाचित् एक ही हो तो वह अकेला भी शोभनीक एवं प्रशंसनीय है, और मोक्षमार्ग से भ्रष्ट ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव बहुत से हो तो भी वे शोभनीक नहीं हैं। अत: तुम सम्यक्त्व की आराधना में उत्साह करो।

❀✻❀✻❀✻❀✻

श्री पद्मनंदी मुनिराज देशव्रत उद्योतन में सम्यग्दर्शन की विरलता बतलाकर कहते हैं कि—इस जगत में अत्यंत प्रीतिपूर्वक जो जीव पवित्र जैनदर्शन में स्थिति करता है, अर्थात् शुद्ध सम्यग्दर्शन को निश्चलरूप से आराधता है, वह जीव चाहे एक ही हो और कदाचित् पूर्व कर्मोदय से दु:खी हो, तो भी वह प्रशंसनीय है, क्योंकि सम्यग्दर्शन द्वारा परम आनंददायक अमृतमार्ग में वह स्थित है। और जो अमृतमय मोक्षमार्ग से भ्रष्ट है और मिथ्यामार्ग में स्थित है,

ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव बहुत हो और शुभकर्म से प्रमुदित हो तो भी उनसे क्या प्रयोजन है ? वे कोई प्रशंसनीय नहीं हैं।

भाई ! संसार में तो अनंत जीव हैं, परंतु जैनदर्शन प्राप्त कर जो जीव पवित्र सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय की आराधना करते हैं, वे ही शोभनीक हैं। सम्यग्दर्शन के बिना पुण्य भी प्रशंसनीय या वांछनीय नहीं है। जगत में मिथ्यादृष्टि बहुत हो और सम्यग्दृष्टि चाहे थोड़े हो—उससे क्या ? जैसे जगत में कोयला बहुत हो और हीरा थोड़ा हो, उससे क्या कोयले की कीमत बढ़ गई ?—नहीं। थोड़ा हो तो भी जगमगाता हीरा शोभता है; उसीप्रकार थोड़े हो तो भी सम्यग्दृष्टि जीव जगत में शोभते हैं। हीरे हमेशा थोड़े ही होते हैं। जैनधर्म की अपेक्षा अन्य कुमत के माननेवाले जीव यहाँ बहुत दिखने में आते हैं, उससे धर्मात्मा को कभी ऐसा संदेह नहीं होता है कि वे कुमत सच्चे होंगे। वह तो नि:शंक रूप से और परम प्रीति से जैनधर्म को अर्थात् सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय को आराधता है। और ऐसे धर्मी जीवों से ही यह जगत शोभित हो रहा है।

सर्वज्ञदेव के कहे हुए पवित्र दर्शन में जो प्रीतिपूर्वक स्थिति करता है, अर्थात् निश्चलपने शुद्ध सम्यग्दर्शन को आराधता है, वह सम्यग्दृष्टि जीव अकेला हो तो भी जगत में प्रशंसनीय है। चाहे कदाचित् पूर्व के कोई दुष्कर्म के उदय से वह दुखित हो—बाहर की प्रतिकूलता से घिरा हुआ हो, निर्धन हो, काला-कुबड़ा हो, तो भी अन्तरंग की अनंत चैतन्यऋद्धि का स्वामी वह धर्मात्मा परम आनंदरूप अमृतमार्ग में स्थित है। करोड़ों-अरबों में वह अकेला हो तो भी शोभता है, प्रशंसा पाता है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में समंतभद्रस्वामी कहते हैं कि—जो जीव सम्यग्दर्शन संपन्न है, वह चांडाल के देह में रहा हुआ हो तो भी गणधरदेव उसे 'देव' कहते हैं। जैसे भस्म से ढँके हुए अंगारों में अंदर प्रकाश-तेज है, उसीप्रकार चांडाल की देह से ढँका हुआ वह आत्मा अंदर सम्यग्दर्शन के दिव्यगुण से प्रकाशित हो रहा है।

**सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजं।**
**देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारान्तरौजसं ॥२८॥**

सम्यग्दृष्टि जीव गृहस्थ हो तो भी मोक्षमार्ग में स्थित है। उसे भले ही बाहर की

प्रतिकूलता कदाचित् हो, परंतु अंतर में तो उसे चैतन्य के आनंद की मौज है; इंद्र के वैभव में भी जो आनंद नहीं, उस आनंद का वह अनुभव करता है। पूर्व कर्म का उदय उसे नहीं ड़िगा सकता। वह सम्यक्त्व में निश्चल है। कोई जीव तिर्यंच हो और सम्यग्दर्शन प्राप्त कर चुका हो, रहने का मकान न हो तो भी वह आत्मगुणों से शोभता है, और मिथ्यादृष्टि जीव सुवर्ण के सिंहासन पर बैठा हो तो भी वह नहीं शोभता, प्रशंसा नहीं पाता। बाहर के संयोग से आत्मा की कुछ शोभा नहीं है, आत्मा की शोभा तो अन्दर के सम्यग्दर्शनादि गुणों से है। अरे, छोटा-सा मेंढ़क हो, समवसरण में बैठा हो, वह भगवान की वाणी सुनकर अंदर में उतरकर सम्यग्दर्शन द्वारा चैतन्य के अपूर्व आनंद का अनुभव करे, वहाँ अन्य किस साधन की जरूरत है ? और बाहर की प्रतिकूलता कैसे बाधक हो सकती है ? इसलिये कहा है कि चाहे पापकर्म का उदय हो, परंतु हे जीव ! तू सम्यक्त्व की आराधना में निश्चल रह। पापकर्म का उदय हो, उससे कहीं सम्यक्त्व की कीमत नहीं चली जाती, परंतु वह पापकर्म निर्जरता जाता है; चारों ओर से पापकर्म के उदय से घिरा हुआ हो, अकेला हो तो भी जो प्रीतिपूर्वक सम्यक्त्व को धारण करता है, वह अत्यंत आदरणीय है; चाहे जगत में अन्य उसे न माने, चाहे विपरीत दृष्टिवाले उसे साथ न देवे, तो भी अकेला वह मोक्ष के मार्ग में आनंदपूर्वक चला जाता है। शुद्ध आत्मा में मोक्ष का अमृतमार्ग उसने देख लिया है, उस मार्ग पर नि:शंक चला जाता है। उसकी चेतनापरिणति उदय में तन्मय नहीं होती, उसकी परिणति तो चैतन्यस्वभाव की तरफ झुककर आनंदमयी बन गई है, उस परिणति से वह अकेला शोभता है। जैसे जंगल में वन का राजा सिंह अकेला भी शोभता है, वैसे ही संसार में चैतन्यराजा सम्यग्दृष्टि अकेला भी शोभता है। सम्यक्त्व के साथ पुण्य हो तो वह जीव शोभा पावे—पुण्य की ऐसी अपेक्षा सम्यग्दर्शन में नहीं है। सम्यग्दृष्टि पाप के उदय से भी जुदा है और पुण्य के उदय से भी जुदा है, दोनों से भिन्न अपने ज्ञानभाव में सम्यक्त्व से ही वह शोभता है। आनंदमय अमृतमार्ग में आगे बढ़ता हुआ वह अकेला मोक्ष में चला जाता है। श्रेणिक राजा अभी नरक में हैं परंतु उनकी आत्मा सम्यक्त्व को प्राप्त कर अभी मोक्षमार्ग में गमन कर रही है, सम्यक्त्व के प्रताप से थोड़े समय में वे तीन लोक के स्वामी होंगे।

जिसे सम्यग्दर्शन नहीं, जिसे धर्म की खबर नहीं, जो अमृतमार्ग से भ्रष्ट है और मिथ्यामार्ग में गमन करता है, वह जीव चाहे कदाचित् पुण्योदय के ठाठ से घिरा हुआ (छूटा हुआ नहीं परंतु घिरा हुआ) हो और लाखों-करोड़ों जीव उसे माननेवाले हों, तो भी वह नहीं

शोभता, प्रशंसा नहीं पाता। अरे, धर्म में इसकी क्या कीमत! कोई कहे कि 'पवित्र जैनदर्शन से अन्य कोई विपरीत मार्ग को बहुत लोग मानते हैं तो उसमें कोई शोभा होगी! या कोई सच्चा होगा!'—तो कहते हैं कि नहीं; इसमें अंशमात्र शोभा नहीं, सत्य नहीं। मिथ्यामार्ग के माननेवाले लाखों जीव हो तो भी वे नहीं शोभते, क्योंकि आनंद से भरे हुए अमृतमार्ग की उन्हें खबर नहीं है, वे मिथ्यात्व के विष से भरे हुए मार्ग में जा रहे हैं। जगत में किसी कुपंथ को लाखों मनुष्य माने उससे धर्मी को शंका नहीं होती कि उसमें कुछ शोभा होगी! सत्यपंथ के माननेवाले बहुत थोड़े जीव होवे, आप स्वयं अकेला भी हो, तो भी धर्मी को संदेह नहीं होता कि सत्यमार्ग यह होगा या अन्य होगा!—वह तो नि:शंकरूप से परम प्रीतिपूर्वक सर्वज्ञ के कहे हुए पवित्र मार्ग को साधता है। इसप्रकार सतपंथ में अथवा मोक्षमार्ग में सम्यग्दृष्टि अकेला भी शोभता है। जगत की प्रतिकूलता का घेरा उसे सम्यक्त्व से ड़िगा नहीं सकता। वहाँ मोक्षमार्ग को आनंद से परिपूर्ण अमृतमार्ग कहा है। इस आनंदपूर्ण अमृतमार्ग में एक-दो-तीन या थोड़े सम्यग्दृष्टि भी हो तो वे जगत में शोभते हैं। अत: इस सम्यक्तव को निश्चलरूप से धारण करो। मुनिधर्म हो अथवा श्रावकधर्म हो, उसमें सम्यग्दर्शन सबसे पहले है। सम्यग्दर्शन के बिना श्रावकधर्म अथवा मुनिधर्म नहीं होता। अत: हे जीव! तुझे धर्म करना हो और धर्मी होना हो तो पहले तू ऐसे सम्यग्दर्शन की आराधना कर, उसी से ही धर्मीपना होगा।

सत् का माप संख्या के आधार से नहीं है, और सत् को दुनिया की, प्रशंसा की आवश्यकता नहीं है। दुनिया में अधिक जीव मानें और अधिक जीव आदर देवें तो ही सत् को सत् कहा जावे-ऐसा नहीं, थोड़े माननेवाले हों तो भी सत् शोभता है; सत् अकेला अपने से शोभता है, न कि जनसंख्या से।

अहा, सर्वज्ञदेव द्वारा कहा हुआ आत्मा जिसकी प्रतीति में आ गया है, अनुभव में आ गया है, ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव पुण्य की मन्दता से कदाचित् धनहीन हो, पुत्रहीन हो, काला-कुबड़ा हो, रोगी हो, स्त्री अथवा तिर्यंच हो, चांडाल इत्यादि नीच कुल में जन्मा हो, लोक में अनादर होता हो, बाहर में असाता के उदय से दु:खी हो—ऐसी चाहे जितनी प्रतिकूलता के होते हुए भी सम्यग्दर्शन के प्रताप से वह अपने चिदानंदस्वरूप में संतुष्टता से मोक्षमार्ग को साध रहा है, इस कारण वह जगत में प्रशंसनीय है, गणधरादि संत उसके सम्यक्त्व की प्रशंसा करते हैं; उसका आनंदकंद आत्मा कहीं निर्धन नहीं, उसका आत्मा रोगी नहीं, उसका आत्मा

काला–कुबड़ा अथवा चांडाल नहीं, उसका आत्मा स्त्री नहीं, वह तो चिदानंदस्वरूप ही अपने को अनुभवता है, अंदर में अनंत गुणों की निर्मलता का अपूर्व खजाना उसके पास है।

श्री दौलतरामजी कवि सम्यग्दृष्टि की अंतरंगदशा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

**'चिन्मूरत दृगधारी की मोहे रीति लगत है अटापटी,**
**बाहर नारकीकृत दुख भोगत अंतर सुखरस गटागटी'**

नारकी को बाह्य में क्या कोई अनुकूलता है ?–नहीं। तो भी वह सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है; छोटा मेंढ़क भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है; वह प्रशंसनीय है। ढ़ाई द्वीप में समवसरण आदि में बहुत से तिर्यंच सम्यग्दृष्टि हैं, इसके बाद ढ़ाई द्वीप के बाहर तो असंख्यात तिर्यंच आत्मा ज्ञानसहित चौथे–पाँचवें गुणस्थान में विराज रहे हैं, सिंह–बाघ और सर्प जैसे प्राणी भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं, वे जीव प्रशंसनीय हैं। अंदर से चैतन्य का पाताल फोड़कर सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है—उसके महिमा की क्या बात! बाहर के संयोग से देखे, उसे यह महिमा दिखाई नहीं देती है, परंतु अंदर आत्मा की क्या दशा है, उसे पहिचाने तो उसकी महिमा का ज्ञान हो। सम्यग्दृष्टि ने आत्मा के आनंद को देखा है, उसका स्वाद चखा है, भेदज्ञान हुआ है, वह वास्तव में आदरणीय है, पूज्य है। बड़े राजा–महाराजा को प्रशंसनीय नहीं कहा, स्वर्ग के देव को प्रशंसनीय नहीं कहा, परंतु सम्यग्दृष्टि को प्रशंसनीय कहा है, फिर भले वह तिर्यंच पर्याय में हो, नरक में हो, देव में हो, कि मनुष्य में हो, वह सर्वत्र प्रशंसनीय है। जो सम्यग्दर्शन धर्म का साधन कर रहे हैं, वे ही धर्म में अनुमोदनीय हैं। सम्यग्दर्शन के बिना बाह्य त्याग–व्रत या शास्त्रज्ञान आदि बहुत हो तो भी आचार्यदेव कहते हैं कि यह हमको प्रशंसनीय नहीं लगता, क्योंकि यह कोई आत्मा के हितरूप कारण नहीं बनता है। हित का मूल कारण तो सम्यग्दर्शन है। करोड़ों–अरबों जीवों में एक ही सम्यग्दृष्टि हो तो भी वह उत्तम है–प्रशंसनीय है, और विपरीत मार्ग में बहुत हों तो भी वे प्रशंसनीय नहीं हैं। ऐसा समझकर हे जीव! तू सम्यग्दर्शन की आराधना कर, ऐसा तात्पर्य है।

शरीर क्या आत्मा का है ?—ना; तो अपना नहीं, वह चाहे जैसा हो, उसके साथ आत्मा का क्या संबंध है ?—इसलिये धर्मी का महत्व संयोग से नहीं, धर्मी का महत्त्व निज चिदानंदस्वभाव की अनुभूति से ही है।

हजारों भेड़ों के समूह की अपेक्षा जंगल में अकेला सिंह भी शोभता है, उसीप्रकार जगत के लाखों जीवों में सम्यग्दृष्टि अकेला भी (गृहस्थपने में हो तो भी) शोभता है। मुनि सम्यग्दर्शन के बिना नहीं शोभता, और सम्यग्दृष्टि मुनिपना के बिना भी शोभता है, वह मोक्ष का साधक है, वह जिनेश्वरदेव का पुत्र है; लाख प्रतिकूलता के बीच में भी वह जिनशासन में शोभता है। मिथ्यादृष्टि करोड़ों और सम्यग्दृष्टि एक-दो ही हों तो भी सम्यग्दृष्टि ही शोभते हैं। बहुत चींटियों का समूह इकट्ठे हो जावें, उससे वे प्रशंसा प्राप्त नहीं करते। सम्यग्दर्शन के बिना पुण्य के बहुत संयोग प्राप्त हों तो भी आत्मा नहीं शोभता; और नरक में जहाँ हजारों-लाखों या असंख्यात वर्षोंपर्यंत अनाज का कण या पानी की बूँद नहीं मिलती, वहाँ भी आनंदकंद आत्मा का भान कर सम्यग्दर्शन से आत्मा शोभित हो उठता है। जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करते हुए हम नीचे का श्लोक बोलते हैं, उसमें भी यह भावना गूँथी हुई है—

जिनधर्मविनिर्मुक्तो मा भवत् चक्रवर्थपि।
स्यात् चेटोपि दरिद्रोषि जिनधर्मानुवासित:॥

प्रतिकूलता कोई दोष नहीं और अनुकूलता कोई गुण नहीं है। गुण-दोष का संबंध बाहर के संयोग के साथ नहीं है; आत्मा के स्वभाव की तथा देव-गुरु की, नव तत्त्वों की श्रद्धा सच्ची है या नहीं है—उसके ऊपर गुण-दोष का आधार है। धर्मी जीव स्वभाव के अनुभव से-श्रद्धा से अत्यंत संतुष्टरूप रहते हैं, जगत के किसी संयोग की वांछा उन्हें नहीं। सम्यग्दर्शन रहित जीव हजारों शिष्यों से पूजित हो तो भी वह प्रशंसनीय नहीं, और कोई सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा की लोक में प्रसिद्धि न हो तो भी वह प्रशंसनीय है; क्योंकि वह मोक्ष का पथिक है, वह सर्वज्ञ का 'लघुनंदन' है; मुनि तो सर्वज्ञ के ज्येष्ठ पुत्र हैं और यह सम्यग्दृष्टि लघुनंदन अर्थात् छोटे पुत्र हैं। भले छोटा, परंतु है तो वह सर्वज्ञ का उत्तराधिकारी, वह अल्पकाल में तीन लोक का नाथ-सर्वज्ञ बन जायेगा।

रोगादि जैसी प्रतिकूलता में भी धर्मी को 'मैं स्वयंसिद्ध, चिदानंदस्वभावी परमात्मा हूँ' ऐसी निजात्मा की अंतरप्रतीति नहीं छूटती। आत्मा के स्वभाव की ऐसी प्रतीति सम्यग्दर्शन है, और उसमें सर्वज्ञदेव की वाणी निमित्तरूप है; उसमें जिसे संदेह है, उस जीव को धर्म नहीं होता। सम्यग्दृष्टि जिनवचन में और जिनवाणी में दर्शाये आत्मस्वभाव में प्रतीति कर

सम्यग्दर्शन में निश्चलरूप से स्थिति करते हैं। ऐसे जीव जगत में तीनों काल में विरले ही होते हैं। वे भले ही थोड़े हों तो भी वे प्रशंसनीय हैं। जगत के सामान्य जीव भले उन्हें नहीं पहिचाने परंतु सर्वज्ञ भगवंत, संत और ज्ञानियों के द्वारा वे प्रशंसा के पात्र हैं, भगवान और संतों ने उनको मोक्षमार्ग में स्वीकार किया है, फिर जगत में इससे बड़ी अन्य कौनसी प्रशंसा है ? बाहर में चाहे जैसा प्रतिकूल प्रसंग हो तो भी सम्यग्दृष्टि-धर्मात्मा पवित्र दर्शन से चलायमान नहीं होते।

**प्रश्न—**चारों ओर प्रतिकूलता से घिरे हुए ऐसे दुखिया को सम्यग्दर्शन प्राप्ति का अवकाश कहाँ से मिलेगा ?

**उत्तर—**भाई ! सम्यग्दर्शन में क्या कोई संयोग की आवश्यकता है ? प्रतिकूल संयोग कोई दु:ख के कारण नहीं और अनुकूल संयोग कोई सम्यक्त्व का कारण नहीं है; आत्मस्वरूप में भ्राँति ही दु:ख का कारण है और आत्मस्वरूप की निर्भ्रांत प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन सुख का कारण है। यह सम्यग्दर्शन कोई संयोगों के आश्रव से नहीं है, परंतु अपने सहज स्वभाव के ही आश्रय से है। अरे ! नरक में तो कितनी असह्य प्रतिकूलता है। वहाँ खाने को अन्न या पीने को पानी नहीं मिलता, सर्दी-गर्मी का पार नहीं, शरीर में पीड़ा का पार नहीं, कुछ भी सुविधा नहीं, तो भी वहाँ पर (सातवें नरक में भी) असंख्यात जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त कर चुके हैं—उन्होंने वह किस आधार से प्राप्त किया ? संयोग का लक्ष छोड़ परिणति को अंतर में लगाकर आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है। नरक में भी यह सम्यग्दर्शन होता है, तो यहाँ क्यों न होवे ? यहाँ कोई नरक जितनी तो प्रतिकूलता नहीं है ? आप अपनी रुचि पलटकर आत्मा की दृष्टि करे तो संयोग कोई विघ्न नहीं करते। अपनी रुचि न पलटावे और संयोग का दोष बतावे तो वह मिथ्याबुद्धि है।

यहाँ तो, पैसा हो अथवा पुण्य हो, वह जीव प्रशंसनीय है—ऐसा नहीं कहा है। परंतु जिसके पास धर्म है, वह जीव प्रशंसनीय है—ऐसा कहा है। पैसा अथवा पुण्य क्या आत्मा के स्वभाव की चीज़ है ? जो अपने स्वभाव की चीज़ न हो, उससे आत्मा की शोभा कैसे हो ? हे जीव ! तेरी शोभा तो तेरे निर्मल भावों से है। अन्य से तेरी शोभा नहीं। अंतर्स्वभाव की प्रतीति करके उसमें तू स्थित रह। बस, तेरी मुक्ति निकट ही है।

अनुकूल-प्रतिकूल संयोग के आधार से धर्म-अधर्म का कोई माप नहीं है। धर्मी हो

उसे प्रतिकूलता आवे ही नहीं—ऐसा नहीं है। हाँ, इतना सत्य है कि प्रतिकूलता में धर्मी जीव अपने धर्म को नहीं छोड़ता। कोई कहे कि धर्मी के पुत्र इत्यादि मरते ही नहीं, धर्मी के रोग होता ही नहीं, धर्मी के जहाज डूबते ही नहीं, तो उसकी बात सत्य नहीं। उसको धर्म के स्वरूप की खबर नहीं है। धर्मी को भी पूर्व पाप का उदय हो तो ऐसा भी हो सकता है। कोई समय धर्मी के पुत्रादि की आयु थोड़ी भी हो और अज्ञानी के पुत्रादि की आयु विशेष हो।—परंतु उससे क्या ? ये तो पूर्व के बँधे हुये शुभ-अशुभ कर्म के खेल हैं। इसके साथ धर्म-अधर्म का संबंध नहीं है। धर्मी की शोभा तो अपनी आत्मा से ही है। संयोग से इनकी कोई शोभा नहीं है। मिथ्यादृष्टि को संयोग कोई समय अनुकूल होवे, परंतु अरे! मिथ्यामार्ग का सेवन यह महा दुःख का कारण है—इसकी प्रशंसा क्या ? कुदृष्टि की—कुमार्ग की प्रशंसा धर्मी जीव नहीं करते।

सम्यक्प्रतीति द्वारा निजस्वभाव से जो जीव भरा हुआ है और पाप के उदय के कारण संयोग से रहित है (अर्थात् अनुकूल संयोग उसे नहीं) तो भी उसका जीवन प्रशंसनीय है—सुखी है। मैं मेरे सुखस्वभाव से भरा हुआ हूँ और संयोग से खाली हूँ—ऐसी अनुभूति धर्मी को सदा ही वर्तती है, वह सत्य का सत्कार करनेवाला है, आनंददायक अमृतमार्ग पर चलनेवाला है। और जो जीव स्वभाव से तो खाली है—पराश्रय की श्रद्धा करता है अर्थात् आनंद से भरे हुए निजस्वभाव को जो नहीं देखता और विपरीत दृष्टि से राग को ही धर्म मानता है, संयोग से और पुण्य से अपने को भरा हुआ मानता है, वह जीव बाहर के संयोग से सुखी जैसा दिखता हो तो भी वह वास्तव में महा दुःखी है, संसार के ही मार्ग में है। बाहर का संयोग कोई वर्तमान धर्म का फल नहीं। धर्मी जीव बाहर से चाहे खाली हो परंतु अंतर में भरे हुए स्वभाव की श्रद्धा, तद्रूप ज्ञान और बल से वह केवलज्ञानी होगा। और जो जीव संयोग से भरा हुआ परंतु स्वभावज्ञान से शून्य (खाली) है—वह सम्यग्दर्शन से रहित है, वह विपरीत दृष्टि से संसार में कष्ट उठायेगा; आत्मा को स्वभाव से भरा हुआ और संयोग से खाली माना तो वह उसके फल में संयोग रहित ऐसे सिद्धपद को प्राप्त करेगा।

अरे, संयोग से आत्मा की महत्ता मानी, यह तो स्वभाव को भूलकर इस अनमोल मनुष्यभव को हारने जैसा है। अत: हे भाई! इस मनुष्यभव को प्राप्त कर आत्मा का भान कैसे हो और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होकर भवभ्रमण कैसे मिटे, उसका पुरुषार्थ कर।

जगत में असत् माननेवाले बहुत हो—उससे क्या और सत्य धर्म समझनेवाले थोड़े ही हों—उससे क्या?—उससे कोई असत् की कीमत बढ़ जाये और सत् की कीमत घट जाये—ऐसा नहीं है। कीड़ी के दल बहुत से हों और मनुष्य थोड़े हों—उससे कोई कीड़ी की कीमत बढ़ नहीं जाती। जगत में सिद्ध सदा थोड़े और संसारी जीव बहुत हैं, इससे सिद्ध की अपेक्षा संसारी की कीमत क्या बढ़ गई? जैसे अफीम का चाहे बड़ा ढेला हो तो भी कड़वा है और शक्कर की छोटी सी कणिका हो तो भी वह मीठी है, उसीप्रकार मिथ्यामार्ग में करोड़ों जीव हों तो भी वह मार्ग जहर जैसा है और सम्यक्मार्ग में चाहे थोड़े जीव हों तो भी वह मार्ग अमृत जैसा है। जैसे थाली चाहे सोने की हो परंतु यदि उसमें जहर भरा हो तो वह नहीं शोभती और खानेवाला मरता है, उसीप्रकार कोई जीव चाहे पुण्य के ठाठ के मध्य में पड़ा हो परंतु यदि वह मिथ्यात्वरूपी जहर सहित है तो वह नहीं शोभता, वह संसार में भावमरण कर रहा है। परंतु जिसप्रकार थाली चाहे लोहे की हो किंतु उसमें अमृत भरा हो तो वह शोभा पाती है और खानेवाले को तृप्ति देती है, उसीप्रकार चाहे प्रतिकूलता के समूह में पड़ा हो परंतु जो जीव सम्यग्दर्शनरूपी अमृत से भरा हुआ है, वह शोभता है, वह आत्मा के परम सुख को अनुभवता है और अमृत समान सिद्धपद को प्राप्त करता है।

परमात्मप्रकाश, पृष्ठ २०० में कहा है कि—

**वरं नरकवासोऽपि सम्यक्त्वेन हि संयुत:।**
**न तु सम्यक्त्वहीनस्य निवासो दिवि राजते॥**

सम्यक्त्वसहित जीव का नरकवास भी भला है और सघ्म्यक्त्वरहित जीव का देवलोक में निवास होना भी नहीं शोभता। सम्यग्दर्शन बिना देवलोक के देव भी दु:खी ही हैं। शास्त्र में तो उन्हें पापी कहा है—'सम्यक्त्वरहित जीवा: पुण्यसहिता अपि पापजीवा भण्यन्ते।'

—ऐसा जानकर श्रावक को सबसे पहले सम्यक्त्व की आराधना करनी चाहिये।

# भगवान महावीर की पहचान से आत्मा की पहचान

अहमदाबाद शहर में गुरुदेव की जन्मजयंति मनायी गई। उस समय गुरुदेव ने प्रवचन में वीरप्रभु की भक्तिपूर्वक वीरमार्ग का जो अमृत प्रवाह बहाया, उसमें से कुछ अमृतबिंदु झेलकर यहाँ दिया जाता है—जो पान करेगा, वह अमर बन जायेगा। (संपादक)

अभी भगवान महावीर के निर्वाण का ढाई हजारवर्षीय महोत्सव चल रहा है; इसमें भगवान के स्वरूप की पहचान से सम्यक्त्व होता है—यह बात प्रवचनसार की ८०वीं गाथा में दिखलाते हैं—

जो जानते अरहंत के गुण-द्रव्य अरु पर्याय को,
वो जानते निजात्म को, तस मोह होता क्षय अहो।

चेतनद्रव्य, चैतन्यगुण, चैतन्यपर्याय-इनमें कहीं राग नहीं आया, ऐसे शुद्ध चैतन्यस्वरूप से भगवान अरिहंतदेव के आत्मा को जो पहचानते हैं, वह अपने आत्मा का भी राग से भिन्न चैतन्यस्वरूप जानकर सम्यक्तव को पाते हैं, और जन्म-मरण के दु:खों से मुक्त होते हैं।

जैसा अरिहंतदेव का आत्मा अथवा जैसा भगवान महावीर का आत्मा, वैसा ही मेरा आत्मा भी चेतनस्वभावमय है—ऐसा जानकर चेतनस्वभाव में ही अपने गुण-पर्यायों को अंतर्लीन करता हुआ वह जीव सम्यग्दर्शन पाता है और उसका मोह नष्ट हो जाता है... चैतन्य की परम शांति का उसे वेदन होता है।

[प्रवचन-मंडप के बाहर देखो तो, चैत्र-वैशाख का धोमधीकता आताप जीवों को कहीं चैन नहीं लेने देता, परंतु महावीर-प्रवचनमंडप में तो शांत चैतन्यरस की ऐसी शीतल झडियाँ बरस रही हैं कि सूर्य का आताप तो क्या!-अपितु अंतर में मोह का आताप भी शांत होकर मुमुक्षु को चैतन्य की कोई विशिष्ट मधुर शीतलता का संवेदन होने लगता है। आप यह अहमदाबाद का प्रवचन पढ़ रहे हो।]

आत्मा की पहचान होते ही अंदर में अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद आता है। वह आत्मा कैसा है—उसका यह अलौकिक वर्णन कुन्दकुन्दस्वामी ने किया है।

जैसे भगवान अरिहंत का अर्थात् भगवान महावीर का आत्मा त्रिकाल चेतनस्वरूप है, वैसे मेरा आत्मा भी त्रिकाल चेतनस्वरूप है।

जैसे सर्वज्ञ-अरिहंत-महावीर के सभी गुण चैतन्यरूप हैं, वैसे मेरे आत्मा के भी सभी गुण चैतन्यरूप हैं।

अब रही पर्याय, सो अरिहंतदेव की पर्याय अकेले चैतन्यपरिणमनरूप है, रागादि कोई परभाव उसमें नहीं हैं; मेरी पर्याय में चेतनभाव तथा रागभाव दोनों दिखते हैं, परंतु अरिहंतदेव के साथ मिलान करने पर ज्ञान तथा राग का पृथक्करण हो जाता है, इनमें से चैतन्य अंशों को तो मैं अपने चैतन्य में अंतर्लीन-अभेद कर देता हूँ, और रागादि भावों को मेरे चैतन्यस्वभाव से भिन्न रखता हूँ—इसप्रकार अरिहंत के आत्मा को अपना आदर्श बनाकर, अपने में राग से भिन्न चैतन्यस्वरूप गुण-पर्यायों को ही चेतनद्रव्य में अभेद करके अनुभव में लेता है; बस! उसी क्षण उसके मोह का क्षय होकर वह जीव अपूर्व सम्यग्दर्शन पा लेता है।—यह है महावीर का मार्ग! यही है मोक्ष का सच्चा उत्सव!

रे जीव! यह मार्ग सत् है; तेरे हित का मार्ग तेरे अंतर में ही सत् है, वह कहीं बाहर में नहीं है। तुझे तेरे आत्मा की अनुभूति कैसे हो! इसकी यह बात है। धर्मात्मा संत स्वयं ऐसी अनुभूति करके तुझे उसकी रीति दिखलाते हैं; अनुभूति का अवसर मिला है, तो अब प्रमाद करके तू उसे व्यर्थ मत गँवा देना।

हे भव्य! अपने सर्वज्ञदेव के आत्मा को सत्यस्वरूप से यदि तू पहचानेगा तो तेरे में भी उनके जैसा ही कोई अपूर्व निधान भरा है—वह तेरे को दिखेगा। तूने तेरे चैतन्यस्वभाव के साथ में अपनी पर्याय को अभेद करके कभी अनुभव नहीं किया, अतः राग से रहित सर्वज्ञ के भी सत्य स्वरूप को तूने कभी नहीं पहचाना। किंतु अब तो तू जैनमार्ग में आया है, अरिहंतदेव का पथ तुझे महान भाग्य से मिला है, तो अब अरिहंतदेव को महावीर भगवान को चेतनमय द्रव्य-गुण-पर्याय से पहचान तो सही! उनकी पहचान से तेरे द्रव्य-गुण-पर्याय सब तुझे चेतनमय ही दिखेंगे और राग से भिन्न, परमार्थ से अरिहंत जैसा ही तेरा आत्मा तेरे अनुभव में

आयेगा। वही सम्यग्दर्शन है, उसमें अपूर्व शांति है, वह भगवान का मार्ग है और वही आत्मा का सच्चा जीवन है।

अनादिकाल से मिथ्याभाव से तूने तेरे आत्मा की हिंसा की, अब उस हिंसा से आत्मा को बचाने के लिये, तथा सच्चा सुखी जीवन जीने के लिये तू तेरे आत्मा को सर्वज्ञ के साथ में मिलान करके पहचान ले; तुझे आत्मा की अपूर्व स्वानुभूति होगी।

अहो, स्वानुभूति के अपूर्व वेदन में द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद भी नहीं रहते; चेतन के गुण-पर्याय (-जो चेतनभावरूप ही है) द्रव्यस्वभाव में अंतर्लीन अभेद होकर एकाकार आत्मा अनुभव में आता है।—ऐसा अनुभव करना, यही मोह के जीतने का तथा मोक्ष के पाने का उपाय है। धर्मी जीव कहते हैं कि अहो प्रभो! अहो वीरनाथ! आपके मार्ग में आ करके हमने मोह की सेना को जीतने का उपाय प्राप्त कर लिया है... आपके जैसे ही आत्मा की स्वानुभूति से मोह को नष्ट कर दिया है। अहो भगवान! आपके उपकार का क्या कहें ? जिस मार्ग से आप मोक्ष पधारे, वही मार्ग हमको दिखलाया, और उसी मार्ग पर हम आनंद से चले आ रहे हैं।

अहो! अरिहंत भगवान का मार्ग यह तो आत्मसन्मुखता का कोई अपूर्व अलौकिक मार्ग है, जिसके अंगीकार करने से मोह का नाश होकर सम्यक्त्व हुआ है। अरिहंत का सत्य स्वरूप पहचाननेवाला जीव मात्र पर के सम्मुख देखकर नहीं अटकता; (क्योंकि अरिहंत भी पर के सामने देखकर नहीं अटके थे, तभी तो वे अरिहंत हुए)। अरिहंत को पहचाननेवाला जीव राग और ज्ञान की भिन्नता को समझकर स्वयं अपने ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख होता है और रागादि से भिन्न हो जाता है; इसप्रकार अंतर में एकाग्रता से मोह का नाश करके वह मोक्षमार्ग को खोल देता है।

जैसे क्षायिकभाव होने पर अपने को उसकी खबर पड़ती है, वैसे ही क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि को भी अपनी स्पष्ट खबर पड़ती है; अहो, मेरा चैतन्य-हीरा मुझे प्राप्त हुआ है; जिनोपदेश पाकर, आत्मा को जानकर मैंने मोह को नष्ट किया है; इसप्रकार संसार में दुर्लभ ऐसे चैतन्यचिन्तामणि को पाकर मैं कृतकृत्य हुआ हूँ, फिर भी शुद्धोपयोगी-चारित्र से राग-द्वेष का भी क्षय करके वीतरागता से सर्वथा शुद्धात्मा (केवलज्ञान) प्राप्त करने के लिये मुझे उद्यमशील

रहना जरूरी है;—इसप्रकार दर्शनमोह के उपरांत चारित्रमोह का भी क्षय करके केवलज्ञान प्रगट करना चाहते हैं।

अकेले सम्यग्दर्शन मात्र से केवलज्ञान या मोक्ष नहीं हो जाता; सम्यग्दर्शन के बाद भी जितना राग-द्वेष है, उतना दुःख है; उन राग-द्वेष को भी छोड़कर जीव जब शुद्धोपयोगरूप होता है, तब ही वह केवलज्ञान तथा मोक्ष को पाता है।—यही मोह के क्षय की तथा मोक्ष की प्राप्ति की रीत है। ऐसा मार्ग दिखाकर उसमें सभी अरहंतों की साक्षी देते हुए आचार्यदेव कहते हैं—

इस विधि से अर्हंत सबने नाश किये कर्म को।
उपदेश भी उसका ही देकर, सिद्ध भये, नमूं उनको॥

मोक्ष के लिये सभी राग छोड़ने योग्य है—चाहे राग अशुभ हो या शुभ, वह मोक्ष में रुकावट करनेवाला है।

श्री मुनिराज कहते हैं कि प्रमाद-चोर है, उसका नाश करने के लिये मैं कटिबद्ध हुआ हूँ। देखो, मुनिराज को अशुभराग तो है नहीं; और शुभराग है, उसे भी प्रमाद-चोर समझकर, उसका भी नाश करने के लिये शुद्धोपयोग में प्रयत्नशील हैं। सम्यग्दर्शन तथा चारित्रदशा के उपरांत शुद्धोपयोग की पूर्णता से वीतरागता की तथा केवलज्ञान की भावना भाते हैं। समस्त मोह के क्षय से मोक्ष की प्राप्ति होती है; कषाय का कोई भी अंश रखकर मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

जिसने अपने आनंदधाम को देखा है, ऐसे साधक का हृदय बहुत गंभीर होता है। अनंत काल में जो अनंत तीर्थंकर हुए, उन सभी के भाव का निर्णय साधन के स्वसंवेदन ज्ञान में समा गया है। अहो, स्वसंवेदनज्ञान में निर्णय का कितना जोर है! बाह्यदृष्टिवालों को वह नहीं दिखता।

स्वानुभूति के बल से मुक्ति का मार्ग जानकर धर्मात्मा-साधक कहते हैं कि जितने अरिहंत भगवंत मोक्ष पधारे हैं, वे सब ऐसे ही उपाय से मोह का नाश करके मोक्ष पधारे हैं, और ऐसा ही उपदेश उन्होंने दिया है। मोक्ष के लिये यह एक ही मार्ग है, अन्य कोई मार्ग नहीं है। ऐसे मार्ग का स्वानुभूति के बल से निश्चय करके मैं भी उसी मार्ग पर जा रहा हूँ।—अहो, उन तीर्थंकरों को तथा उनके मार्ग को नमस्कार हो।

❀

## गुजरात राज्य के पाटनगर अहमदाबाद में

# पूज्य श्री कानजीस्वामी का मंगल जन्मोत्सव : वैशाख सुद २

गुजरात का पाटनगर जिसके लिये आतुर था और जिस मंगल उत्सव में भाग लेने के लिये हजारों मुमुक्षु लोग राजनगर-अहमदाबाद में आ चुके थे, वह वैशाख सुदी दोज मंगल बधाई ले करके आ पहुँची।

अभी प्रभात नहीं हुआ था... मध्यरात बीत चुकी थी... उस समय मुमुक्षु भाई-बहनें जागृत होकर जिनमंदिर में पहुँच गये... अहा, आत्महित के हेतुरूप देव-गुरु का जहाँ मंगल उत्सव हो, वहाँ कौन मुमुक्षु सोता रहेगा? मुमुक्षु को जगानेवाले गुरु का जयंती उत्सव मनाने के लिये मुमुक्षु जाग उठे... उठके चलने लगे महावीर-मण्डप की ओर। अहमदाबाद नगरी तो अभी नींद में सो रही थी, परंतु रास्ते में हजारों यात्रिकों के आनंदमय कोलाहल सुनकर कोई-कोई नागरिक लोग चौंक जाते थे और आश्चर्य से देखते थे कि 'यह क्या है?'

श्री जिनमंदिर से वीरनाथ का जय-जयकार करती हुई मंगल प्रभातफेरी आम्रफल के बड़े-बड़े ढ़ेर के बीच से पसार होती हुई महावीर-मण्डप में आ पहुँची। यहाँ छह वर्ष पहले जिस स्थान पर नेमप्रभु के पंचकल्याणक हुए थे, उसी स्थान में वीरनाथ का संदेश सुनने के लिये हजारों मुमुक्षुजन उमड़ पड़ते थे। गुरुदेव भी जिनमंदिर में भगवान आदिनाथ तथा भगवान सीमंधरादि जिनेन्द्रदेव का दर्शन करके महावीर-मण्डप में आ पहुँचे; हजारों भव्यों के हर्षनाद के बीच ८६ सुंदर द्वारों से सुशोभित मार्ग से गुरुदेव जब पसार हो रहे थे, तब ऐसा लगता था—मानों मोक्ष के मंगलमार्ग में कोई मुक्तिदूत ही चला जा रहा है और ऐसे सुंदर मार्ग को देखकर हम भी उनके साथ ही उस मार्ग में जा रहे हैं—ऐसा हर्ष होता था।

इसके बाद हजारों जिज्ञासु भक्तजनों ने भक्तिभाव से गुरुदेव का उपकार प्रसिद्ध करके अभिनंदित किया। इस समय मण्डप के प्रवेशद्वार पर हाथी भी झूम रहे थे। सर्वत्र अनोखा

उल्लास छा रहा था। इसके बाद समयसार गाथा १७-१८ के ऊपर स्वानुभूति की महिमासूचक सुंदर प्रवचन हुआ। इसके बाद ८६ की रकम का फण्ड जाहिर हुआ था। समाज की ओर से अनेक विद्वानों के द्वारा गुरुदेव के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की गई थी। अहमदाबाद में जन्मजयंती के निमित्त से अपना हर्ष व्यक्त करते हुए मुमुक्षु मण्डल के प्रमुख श्री बालचंदभाई ने कहा कि 'भगवान महावीर के वीतरागी शासन का धर्मचक्र आज भी चल रहा है, और हे गुरुदेव! आपके प्रताप से हमको उसकी प्राप्ति हुई है; आपके इस अपूर्व उपकार को हम कैसे व्यक्त करें! भगवान महावीर का ढाई हजारवर्षीय निर्वाण-महोत्सव और उसके साथ आपकी ८६वीं जन्मजयंती आज हमारे आँगन में मनाते हुए हम अपना अहोभाग्य समझते हैं।'

दोपहर में तथा रात्रि में भक्ति-भजन के सुंदर कार्यक्रम हुए थे।

इसप्रकार आनंद-उल्लासपूर्वक अहमदाबाद में गुरुदेव की ८६वीं जन्मजयंती का उत्सव हुआ था। इस प्रसंग पर घाटकोपर (बम्बई) से हमारे मुमुक्षु भाईओं की भजन मण्डली भी अपना आनंद व्यक्त करने को आई थी, और बहुत अच्छे कार्यक्रम प्रस्तुत किये थे, जिसमें वैशाख सुदी एकम के दिन सात-आठ हजार की जनसंख्या की उपस्थिति में गुरुदेव के जीवनप्रसंगों के बारे में नाटक दिखाया था और उनकी आत्मार्थिता की झँकार पहले से कैसी थी? उसका दिग्दर्शन कराया था। यह नाटक देखकर उपस्थित जनता प्रभावित हुई थी। देश-विदेश से अनेक अभिनंदन संदेश आये थे।

दूसरे दिन (वैशाख सुद ३) की सुबह में प्रस्थान करके गुरुदेव सुरेन्द्रनगर पधारे थे; इसके बाद राजकोट-जामनगर-कोटा (राजस्थान), भावनगर-लाठी होकर आप ज्येष्ठ सुदी ६ को सोनगढ़ पधारेंगे। ❀❀❀

## ज्ञानस्वरूप की स्वानुभूति, वही जिनशासन का धर्मचक्र है

**[ समयसार गाथा १४-१७-१८ के प्रवचन में से : अहमदाबाद ]**

जिनशासन में सर्वज्ञदेव ने ज्ञानस्वभावी आत्मा कहा है; द्रव्य-गुण-पर्याय में अथवा सामान्य-विशेष दोनों में धर्मी को वह ज्ञानरूप ही अनुभव में आता है। ज्ञेय का संबंध हो, उस समय भी ज्ञान कहीं उस

ज्ञेयरूप से अनुभव में नहीं आता; उस समय भी ज्ञान तो ज्ञानरूप ही अनुभव में आता है।

जैसे खारा स्वाद है, सो नमक है; खारा स्वाद वह नमक का स्वभाव है, शाक (सब्जी) का नहीं। शाक के संबंध के समय भी खारा स्वादरूप जो अनुभूति है, वह तो नमक की ही है, खारा स्वाद नमक का है; एवं नमक जब शाक के संबंध से रहित अकेला नमक हो तब भी वह खारा स्वभावरूप ही अनुभव में आता है। उसीप्रकार (नमक के दृष्टांत अनुसार) मीठा-मधुर ज्ञानस्वभावी आत्मा है, वह जब अपने में लीन होकर स्वयं अपने का एक का ही अनुभव करता है, तब भी ज्ञान के ही अनाकुल स्वादरूप से अनुभव में आता है, एवं परज्ञेय को जानने की अवस्था में भी आत्मा तो ज्ञान के स्वादरूप ही अनुभव में आता है, ज्ञेयरूप नहीं। राग को जानने के काल में भी धर्मी अपने आत्मा को राग से भिन्न ज्ञानस्वरूप ही वेदते हैं—जानते हैं; राग को ज्ञान के साथ मिलाते नहीं।—जिनसूत्र में व्यपदिष्ट ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा को जिसने जाना उसने समस्त जिनशासन को जान लिया।

अहो! अत्यंत मधुर, आनंदस्वरूप चैतन्यतत्त्व जिनशासन में दिखाया है; यह चैतन्यतत्त्व सर्वत्र आनंद से भरपूर, ज्ञानरूप ही प्रगट अनुभव में आता है। अहो भव्य जीवो! संसार के कोलाहल के सामने देखने का छोड़कर, ऐसे सुंदर चैतन्यतत्त्व को अपने ही अंतर में देखो! उसे देखते ही अपूर्व आनंदमय ज्ञान अनुभव में आता है, यही जैनशासन का सार है, यही धर्म है और यही मोक्षमार्ग है।

अरे जीव! यदि तू मोक्ष का अर्थी हो और तुझे सुख का वेदन करना हो तथा भवदु:ख के वेदन से मुक्त होना हो, तो सबसे पहले ज्ञानरूप होकर तेरे ज्ञानस्वरूप आत्मा को जान। ज्ञानस्वरूप आत्मा ऐसा है कि जो ज्ञानभाव से ही जानने में आता है, रागभाव से वह जानने में नहीं आता। पूर्णिता के अंशरूप दूज, वह भले छोटी हो तथापि है तो पूर्णचंद्र का ही भाग। वैसे साधक की ज्ञान-दूज (ज्ञानबीज) भले छोटी-तथापि वह पूर्ण सर्वज्ञस्वभाव की जाति की है। ऐसे ज्ञानरूप होकर आत्मा का स्वानुभव करना यही मोक्षार्थी का कर्तव्य है; और यही जन्मरहित होने का उत्सव है।

समयसार के प्रारंभ में आचार्यदेव कहते हैं कि अहो, आत्मा के स्वानुभव के निज-वैभव से मैं एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा दिखलाता हूँ, उसे तुम अपने स्वानुभव में प्रत्यक्ष करके प्रमाण करना।

वाह, जैन संतों ने आत्मा के अनुभव की बात समझाई है। जैस तेजदार अश्व को दौड़ाने के लिये चाबुक नहीं लगाना पड़ता, उसके लिये तो इशारा ही बस है! वैसे मोक्ष के लिये उत्सुक मुमुक्षु तो संतों के इशारे से (थोड़े उपदेश से) ही चैतन्य का स्वरूप समझकर स्वानुभव कर लेता है; स्वानुभव में आत्मा के आनंद की जो लब्धि प्रगट होती है-उसकी महिमा वचन से कैसे कही जाये? आत्मा की इस लब्धि के पास में संसार के किसी भी वैभव की कीमत नहीं है।

अहो, अनंत वैभव से भरपूर चैतन्यसत्ता का स्वीकार स्वानुभूति ही कर सकती है। अनुभूति ही चैतन्य की पूर्ण सत्ता का स्वीकार करके अपूर्व आनंद का वेदन करती है। ऐसी अनुभूति की ताकत की क्या बात? ऐसी अनुभूति का मंगल अवसर प्रभु महावीर के शासन में ही है। भगवान महावीर के शासन को कुन्दकुन्दस्वामी ने जीवंत रखा है। अहो, मंगल श्लोक में महावीर भगवान तथा गौतमगणधर के साथ ही कुन्दकुन्दस्वामी का स्थान है; (मंगलं कुन्दकुन्दार्यो।) उन्होंने इस समयसार के मंत्रों के द्वारा आत्मा को जागृत कर दिया है। भाई! तुम जागो रे जागो! तुम्हारी चैतन्यसत्ता को अनुभूति में ले लो। तुम अभी इस अवसर में नहीं जागोगे तब फिर कब जागोगे?

[पाँच हजार से अधिक जनसमुदाय चैतन्य की मधुरी बात आनंद उल्लास के साथ सुन रहा है। आत्मा को कैसे साधा जाये-इस बात को समझाकर गुरुदेव हजारों श्रोताजनों को चैतन्यबंसी के नाद पर मुग्ध बना रहे हैं। गुजरात का यात्रासंघ भी वीर प्रभु के धर्मचक्र सहित आ पहुँचा है। तीन मास पहले अहमदाबाद से निकला हुआ यह धर्मचक्र, हजार यात्रियों के साथ भारत के अनेक प्रांत में विहार करके एवं तीर्थों की यात्रा करके आज पुनः अहमदाबाद आ पहुँचा है, और यात्रिकलोग उत्सव में आनंदपूर्वक भाग ले रहे हैं।]

अहो, स्वानुभूति से ऐसे आत्मतत्त्व को समझकर उसका श्रद्धा-ज्ञान-अनुचरण करना यही धर्मचक्र है, यही महावीर का मार्ग है, और यही निर्वाण का मंगल महोत्सव है।

---

आत्मधर्म के इस विशेष अंक के सुशोभन में तथा समय पर तैयार करने में अजित प्रेस के भाईश्री मगनलालजी जैन ने तथा प्रेसपरिवार ने जो सहयोग दिया उसके लिये धन्यवाद।

## राजगृही-तीर्थ में भक्ति की पराकाष्ठा का एक यादगार दृश्य—

आज मैं महावीरजी प्रभु!
आया तेरे दरबार में,
साथ ही मैं भक्ति लेकर
आया तेरे दरबार में...!
रत्नत्रय दे दो प्रभुजी!
है यह इतनी आरजु,
नाथ मारग मुक्ति का,
देखा तेरे दरबार में।

बड़वानी-चूलगिरी में बावनगजा आदिनाथ भगवान के दर्शन का
अत्यंत मधुर प्रशांत यादगार दृश्य

अपने महान साध्य को देखकर साधक का हृदय तृप्त-तृप्त हो रहा है; यात्रिक भले थोड़े हैं—परंतु जिनकी यात्रा करने आये हैं, उनकी महानता कोई अद्‌भुत-आश्चर्यकारी है! प्रभो आदिनाथ! हम आपके बच्चे आपके आशीर्वाद लेकर के आपके ही मार्ग में आ रहे हैं।

# ईसरी में मधुर मिलन [संवत् २०१३ फाल्गुन सुदी पंचमी]

''श्री कानजीस्वामी तथा श्री गणेशप्रसादजी वर्णी का जीवन में प्रथम बार मिलन हो रहा है, प्रसन्नतापूर्वक दोनों एकदूसरे का हाथ पकड़कर प्रेमपूर्वक वात्सल्यभाव व्यक्त कर रहे हैं।

अहा, सम्मेदशिखर सिद्धिधाम के प्रथम दर्शन की ऊर्मि का क्या कहें? जैसे चंद्र दूर रहा हुआ भी समुद्र को उल्लसित करता है, वैसे सम्मेदशिखरजी सिद्धिधाम दूर से भी भक्त हृदय में आनंद के समुद्र को उल्लसित करता हुआ अपनी ओर खींचता है। मानों कि सिद्धालयवासी सिद्धभगवंतों साधक के हृदय को सिद्धपद की ओर आकर्षित करते हैं—ऐसी मधुर-ऊर्मि सम्मेदशिखर के प्रथम दर्शन में जग रही थी। अहो, आज सिद्धिधाम देखा!''

प्रकाशक : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र) (३६०-३६१)
मुद्रक : मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र) प्रति ३०००